संत फ्रांसिस जेवियर

भारत के प्रेरित

संत फ्रांसिस जेवियर

भारत के प्रेरित

लेखक

श्रद्धेय जे० एफ० पस्काल येसुसमाजी

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट,
वाराणसी—१

प्रकाशक
संपादक, प्रभात
ख्रीस्तराजा, बेतिया
चम्पारण, बिहार

प्रभात साहित्य-माला—९
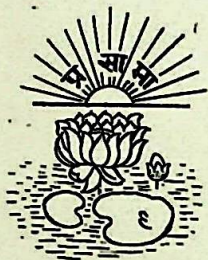
मूल्य २.७५ : डाक खर्च अलग,

Permissu Superiorum

अनुक्रमणिका

परिचय

खीस्तमंडल के गगन-मंडल में,
दो तेजपूर्ण प्रकाश-पिंड, दो महान सन्त :
सन्त इनीगो, गंभीर ज्वालामुखी;
सन्त फ्रांसिस जेवियर युग-युग के प्रकाश-स्तंभ !
एक गुरुदेव– दूसरा पट शिष्य ।
गुरुदेव इनीगो का गुरुमंत्र –
"मनुष्य को क्या लाभ यदि वह सारा संसार
अर्जित कर ले और अपनी आत्मा गवां दे ?"
शिष्य के कानों से टकराया जैसे जल के फुहारे चट्टान से ।
किन्तु बार-बार के आघात ने
और उससे भी अधिक गुरु की प्रार्थना, तपस्या तथा आदंश ने
उस पाषाण से मनोहर मूर्त्ति गढ़ना आरम्भ किया ।
शिष्य ने धीरे-धीरे आत्मा का, मुक्ति का मूल्य समझा ।
गुरु ने उस जड़ मूर्त्ति में प्रभु ईसा की अंतरात्मा रग-रग में भर दी ।

× × × × ×

तब शिष्य तथा गुरु दोनों गिरजा के रणक्षेत्र में उतरे ।
इनीगो निपुण, दूरदर्शी, युगांतकारी सेनानी बने
और फ्रांसिस कुशल, विद्युत्‌गामी, सर्वजयी सैनिक ।
पूर्व के लिए प्रस्थान करने के पूर्व
गुरु ने शिष्य से दक्षिणा चाही :
"जाओ, समस्त संसार को प्रज्वलित कर दो ।"
शिष्य ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की

और इसकी पूर्ति में जीवन का क्षण-क्षण
शरीर का कण--कण तर्पण कर दिया ।
फ्रांसिस "प्रेम का बवंडर" बन
विद्युत् वेग से पूरब की ओर बढ़े
और अंतस्तल के प्रचंड प्रेम–विस्फोट से
दसों दिशाओं को निनादित कर दिया

"मुझे आत्माएं दो, और सब ले लो ।"

उनका यह प्रेम-विकल आवाहन सुन
अरब, हिंद एवं प्रशांत महासागर की उतुंग तरंगें
नभमंडल के भीषण गर्जन तथा भूतल के कोटि-कोटि कंठ
उसी निनाद से प्रकंपित, प्रतिध्वनित हो उठे :

मुझे आत्माएं दो, और सब ले लो ।

गुरु-दक्षिणा देने का यह कितना हृदयहारी रूप था ,
जो लिसबन और गोआ से लेकर मलक्का, जापान और चीन के
लाखों हृदयों में आज भी धर्म–क्रांति मचाए हुए है ।

× × × × ×

भगवान के महान भक्त और गिरजा के ऐसे क्रांतिकारी प्रेरित की जीवनी प्रदान कर श्रद्धेय स्वामी योसेफ पस्काल ने हिंदीभाषी ख्रीस्त-प्रेमियों की प्रशंसनीय सेवा की है । इसके लिए हम सब उनके आभारी हैं और आशा करते हैं कि समय-समय पर अपनी पटु लेखनी मुखरित कर आगे भी हमारा हृदय आलोकित करते रहेंगे ।

ख्रीस्त राजा, बेतिया — कल्याण
१५वीं अगस्त १९६०

पहला परिच्छेद

पुष्प का स्फुरण

जेवियर गढ़ स्पेन के उत्तर स्थित नव्वार प्रान्त के पूर्वी भाग में पड़ता है। उन दिनों नव्वार की राजधानी पंप्लूना थी। उत्तर-पूर्व में फ्रांस और स्पेन को अलग करती है पिरीनीज पर्वतमाला। वगल से ही आरागोन नदी पर्वत-शृंग से निकलकर अतलांतक की ओर बढ़ती है। नव्वार प्रान्त की प्राकृतिक सुषमा बड़ी मनमोहक है। इस शस्यश्यामला घाटी में नव्वार के किसान अपने खेत जोतते और इसके हरे-भरे चरागाहों में नव्वार की भेड़ें आनंद से चरती थीं। वहाँ सैनिकों की जगह कवि और ललित-कला-प्रेमी कल्पना के डैनों पर उड़ते थे।

आज के स्पेन में नव्वार का वही स्थान है जो उस देश के अन्य प्रान्तों का है। फिर भी नव्वारी अपने को स्पेनियों से पृथक मानते आए हैं। स्पेनी भाषा में उन्हें न अपनी वास्क का ओज मिलता है न उसका जोश ही; वास्क फ्रांसिस की मातृभाषा थी। वास्क के ही शब्द पहली वार वालक फ्रांसिस के कोमल कानों से टकराए थे, और वर्षों वाद जेवियर गढ़ के प्रेममय वातावरण से दूर, फ्रांसिस ने वास्क में ही अपने जीवन-वलि के मन्त्र उच्चारे थे।

फ्रांसिस के दो बड़े भाई थे, जुआन और मिकेल। इनको नव्वार की स्वतंत्रता के लिए कभी रणस्थल में शत्रुओं का सामना करना पड़ता, तो कभी गिरि-गह्वर तथा गहन वनों की खाक छाननी पड़ती। इनकी दो बहनों ने राजाधिराज प्रभु येसु के राज्य-विस्तार के लिए अपनी स्वतंत्रता का होम कर दिया था। इन दोनों कुमारियों ने संसार के कोलाहलपूर्ण वातावरण को त्याग मठ की शान्ति का आलिंगन कर लिया था; मरियम पंप्लूना के मठ में और मग्दलेना गांदिया की दरिद्र क्लारों के मठ में।

फ्रांसिस का जन्म पवित्र सप्ताह के मंगलवार को हुआ था। उनकी सुन्दर मुखाकृति, बड़ी-बड़ी आँखें और चौड़े भाल पर लटकते घुंघराले, लच्छेदार

बालमात्र ही उनकी पैतृक सम्पत्ति नहीं थे, चंचलता और कुतूहल में वे अन्य जेवियरवालों से आगे थे। बचपन से ही उनकी धार्मिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाने लगा। गढ़ में ही एक प्रार्थना-कक्ष था। तीन पुरोहितों और एक सेवक के हाथ में समस्त जेवियर कुल की धार्मिक परिचर्या थी। पुरोहितों की जीवनचर्या के लिए जेवियर के स्वामी ने अपनी पत्नी की सहायता से एक विशेष नियमावली तैयार की थी। प्रतिदिन बड़े समारोह के साथ मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाया जाता और प्रत्येक रविवार और पर्व-दिवस को तीन पुरोहितों का मिस्सा होता।

इस प्रकार जेवियर गढ़ में सर्वप्रथम स्थान भगवान को ही प्राप्त था जेवियर की कीमती वस्तुओं में एक आदमकद क्रूसकाय भी था, जिसे देखते ही हृदय कम्पित हो जाता। ऐसे वातावरण में पलने के कारण फ्रांसिस के चरित्र पर नव्वार की धार्मिक भावना तथा भक्ति की गहरी छाप पड़ी थी। उनके कण-कण में थी नव्वारियों के शौर्य की लहर, जो संकट एवं विपत्ति में उनके स्पेनी हृदय को सदा उत्तेजित करती रहेगी।

फ्रांसिस के प्रथम ६ वर्ष शान्तिपूर्वक बीते। पर नव्वार की स्वतंत्रता ज्यों-ज्यों क्षीण होती गई, जेवियर गढ़ पर विपत्तियों के काले बादल छाते गए। नव्वार पाँच भागों में विभक्त था, चार भाग पिरीनीज के दक्षिण, स्पेनी इलाके में पड़ते थे। फ्रांसिस के पितामह इसी हिस्से में रहा करते और फ्रांसिस के पिता भी इसी भाग में खेल कूद कर बड़े हुए थे। शिक्षा तथा योग्यता के अनुसार जब उनका ब्याह चार्ल्स महान की सुपुत्री मरियम से हुआ, तो इस पुनीत बंधन ने उनका संबंध सुश्री मरियम से स्थापित नहीं किया, वरण जेवियर गढ़ से ही उनका अटूट संबंध हो गया।

विपदा के बादल

किन्तु नव्वार के शासन की बागडोर पाँचवें भाग के हाथ में था। और यह हिस्सा फ्रांस में पड़ता था। १५१२ ई० में स्पेनी सेना ने नव्वार पर आक्रमण कर दिया। इसका एकमात्र कारण था स्पेनी सेना को नव्वार से होकर जाने पर नव्वारियों द्वारा प्रतिबंध लगा देना। उधर पिरीनीज के उत्तर से फ्रांस की

सेना स्पेनी सिपाहियों को ललकार रही थी। कुछ ही समय में नव्वार, आरागोन के राजा फर्दिनान्द के अधीन चला गया, और नव्वार की गणना स्पेन के अन्य प्रान्तों में होने लगी। और फर्दिनान्द के प्रतिनिधि नव्वार पर शासन करने लगे। जब स्पेनी सेना के सामने नव्वार नरेश जौन के सैनिकों के पैर अधिक देर न टिक सके तो नव्वार की स्वतंत्रता चली गई। राजा जौन को नव्वार से जान बचाकर भागना पड़ा। इसी बीच जेवियर के स्वामी श्रीमान जुआन इस धराधाम से चल बसे। उसी वर्ष राजा फर्दिनान्द भी संसार से कूच कर गए जिससे नव्वार के काले आकाश में एक पतली रश्मि एक बार फिर चमक उठी। लेकिन क्षणिक चकाचौंध के बाद अंधेरा और भी गहरा हो गया। इसके बाद जेवियर नव्वारी विद्रोहियों का केन्द्र बन गया; किन्तु व्यवस्था के अभाव और कुशल सेनापति के नहीं रहने से यह क्रान्ति विफल रही और जेवियरगढ़ का विध्वंस आरंभ हो गया। गगनचुंबी मीनारों को नतमस्तक होना पड़ा, दीवारें काँप उठीं। विजयी सेना की उदारता से ही श्रीमती मरियम और उनके बच्चों के प्राण बचे। फ्रांसिस नौ वसंत देख चुके थे।

इस विफल क्रान्ति का जेवियर की आर्थिक स्थिति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। जेवियर की पुरानी जागीर थी। इसी जागीर से होकर चरवाहे जाया-आया करते थे; मालिक की गिरी अवस्था देख रैयतों ने इस सुविधा के लिए कर देना बंद कर दिया। श्रीमान जुआन के जन्म-काल से इनकी रैयत ऐसा करती आ रही थी। फलस्वरूप फ्रांसिस और उनके भाइयों को अपने बाहुबल का सहारा लेना पड़ा। वे गड़ेरियों की भेड़ छीन लाते; किन्तु उदारहृदया मरियम के सामने उनकी एक न चलती। भेड़ों को कुछ समय रखकर लौटा दिया करती थीं। ऐसी दुरवस्था में भी फ्रांसिस की शिक्षा में कोई त्रुटि नहीं हुई। मानसिक विकास के साथ-साथ उनके चरित्र-निर्माण पर भी माता-पिता और गढ़ के पुरोहितों की कड़ी निगरानी रहती थी।

सुयोग्य शिक्षक एवं अभिभावकों के संरक्षण में उन्होंने परमप्रसाद के लिए तैयारी की। जेवियर के अशान्त वातावरण में भी फ्रांसिस का बाल हृदय शान्ति से उमड़ उठा होगा जब उन्होंने प्रथम बार पवित्रतम संस्कार में जगत के मुक्तिदाता को ग्रहण किया।

अर्पित करते समय लोगों की ओर घूम कर बोले, "अभी-अभी आम्बोइना में जौन अराउजो इस संसार से चल बसे हैं। कल ही मैंने उनके लिए दिव्य बलिदान चढ़ाया था, आज यह मिस्सा उनकी आत्मा की शान्ति के लिए चढ़ाता हूं। मैं आप लोगों से आग्रह करता हूं, उनके लिए ईश्वर से प्रार्थना करें।"

दस-बारह दिनों के अन्दर ही आम्बोइना से एक आदमी आराउजो की मृत्यु का दुखद समाचार लेकर पहुंचा। अराउजो से सन्त फ्रांसिस को काफी घनिष्ठता थी। उन्हीं से मांग कर सन्त फ्रांसिस रोगियों में अंगूरी बांटा करते थे। एक दिन सन्त के आग्रह से तंग आकर आराउजो ने कह दिया था, "मैं अन्तिम बार यह अंगूरी दे रहा हूं।" इस पर संत नें कहा था, "क्या अराउजो सोचते हैं कि वे अपनी अंगूरी का आनंद लेने के लिए जीवित रहेंगे ? उनका मृत्युकाल निकट है और इसी साल आम्बोइना में होगी।" जब सन्त फ्रांसिस तेरनाते आ रहे थे, तब अराउजो ने भी उनके साथ चलने की इच्छा प्रकट की थी, किन्तु सन्त के कोराकोरा में जगह नहीं थी।

जुलाई महीने में सन्त फ्रांसिस बहुत व्यस्त रहे। पर अगस्त और सितंबर में जब लोग लौंग बटोरने लगे तो उन्हें कुछ अवकाश मिला। और कैसा अवकाश ! मलक्का में धर्मशिक्षा की जो पुस्तिका उन्होंने लिखना शुरू किया था, अब वे उसे नए ढंग से लिखना चाहते थे। यदि उसे पद्य का रूप दे दिया जाय तब तो सोने में सुगंध। कविता सबों को अच्छी लगती है, सभी जाति और देश, युग तथा काल के लोग कविता पसंद करते आए हैं। उसकी धारा में लोग अपना दुख-सुख बहा देते, उसके लय में आत्मविभोर हो उठते हैं। हम इसके सहारे जीवन के अमूल्य सत्यों को रोचक रूप में लोगों के सामने रख सकते हैं। इस हेतु संत फ्रांसिस ने अपनी पुस्तिका जुलाई और अगस्त महीनों में दोहों में लिखना शुरू किया। किन्तु दुर्भाग्यवश यह काम अधूरा ही रह गया। जो कुछ तैयार हो गया था उस पर सन्त इनीगो की आध्यात्मिक साधना की छाप स्पष्ट है। आरंभ में सृष्टि का वर्णन मिलता है, तब दूतों के पतन, आदम हेवा के पाप और उनके अदन वाटिका से निर्वासन का क्रमशः उल्लेख होता है। पुस्तिका यहीं तक तयार हुई थी कि तेरनाते से कूच करने का समय आ गया और पांच हजार शब्दों की पुस्तिका आज तक अधूरी पड़ी है। तेरनाते के ख्रीस्तीयों

के लौंग बटोर कर घर लौटने तक सन्त फ्रांसिस ने मोरो जाने का निश्चय कर लिया था।

खतरनाक, अनजान मोरो

उनके शुभचिन्तकों और धर्मपुत्रों ने उन्हें रोकने की बहुत चेष्टा की। मोरो अनजान द्वीप, इतनी दूर, रास्ता इतना कठिन, जगह इतनी खतरनाक। लेकिन सन्त फ्रांसिस अपने निश्चय पर अटल रहे। उनको अपनी गोद में बैठाए कोराकोरा तेरनाते के बन्दरगाह से निकल पड़ा, मन्थर गति से पानी पर थिरकता-मचलता। रास्ते में ज्वालामुखी पहाड़ थे तो क्या; तेरनाते में वे हृदय कंपा सकते थे लेकिन हृदयसागर की अथाह गहराई में विराजती शान्ति को कदापि भंग नहीं कर सकते। उस अनजान द्वीप केनिवासी बड़े चंचल स्वभाव के थे, इसका यथेष्ट प्रमाण मिल चुका था। आखिर श्रद्धेय बाज के खूनी वे ही थे। बेचारे करते भी क्या, दो-दो जंजीरें उनको अधर्म की ओर खींचती रहीं, दुराचारी सुल्तान और उनका चंचल मनोभाव। यदि इस दूसरे से उनको मुक्त कर दिया जाय शिक्षा तथा दया के द्वारा, तो पहला आप ही आप क्षीण होता जाएगा।

ये खीस्तीय निवासी खीस्त के पापनाशक जल में नहा चुके थे, लेकिन खीस्त-शिक्षा की कसौटी पर ये कसे नहीं गए थे। यदि यह ज्ञान इन्हें मिल जाए तो क्या वे भी अपने धर्म में स्थिर नहीं रह सकते। ये ही भाव सन्त फ्रांसिस को दृढ़ प्रतिज्ञ बनाए हुए थे। इसी चट्टान पर उनके मित्रों की मिन्नतें तथा प्रार्थनाएं टकरा कर चूर-चूर हो गईं। और उनके हितैषी पीछे छूट गए। सीधे उत्तर की ओर कुछ जाकर पूर्व मुड़ने पर जिलोलो द्वीप मिलता था। वहां से पच्चीस मील उत्तर दो और द्वीप थे, राऊ और मोरोपांई। यहीं सन्त फ्रांसिस की यात्रा समाप्त हुई।

उस नए द्वीप-पुंज में फ्रांसिस के तीन महीने बड़ी व्यस्तता में बीते। वे अपरिचित खीस्तीयों की खोज में गांव-गांव घूमते-भटकते रहे। मोरो में आधिपत्य तो मुसलमानों का ही था, किन्तु इस्लाम गिरी अवस्था में था। बर्बर जातीय लोगों की प्रचुरता थी। इन्हीं लोगों में खीस्तीय बीज बोया गया था।

लेकिन चंचल प्रकृति और खीस्तीय सिद्धांतों के न्यूनतम ज्ञान के कारण इनके बीच किसी भी यात्री की जान का खतरा बना ही रहता था। मनुष्यों की जान को वे अपने मनोरंजन का साधनमात्र समझते थे। खाद्यान्न की कमी सदा रहती, गेहूं देखने को भी नहीं मिलता। मांस की तो बात ही दूर, चारों ओर से खारे समुद्र घिरे रहने के कारण पेय जल का भी अभाव था।

ज्वालामुखी पहाड़ लगातार जलती राख उगलते रहते, बात की बात में पृथ्वी कांप उठती। सन्त फ्रांसिस को भी इस हृदय कंपा देनेवाली घटना का अनुभव सितंबर की २९ तारीख को हुआ। उस समय वे मिस्सा का दिव्य बलिदान चढ़ा रहे थे। लेकिन इस वातावरण में भी सन्त को जो अलौकिक आनंद और अपूर्व शान्ति प्राप्त थी, उसे देख कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं, जिसे राजर्षि दाविद ने व्यक्त किया है, "जब प्रभु मेरे जीवन के रक्षक हैं, मुझे किसका डर है। अपनी तत्कालीन आंतरिक स्थिति का वर्णन सन्त फ्रांसिस ने इस प्रकार किया है, "जहां तक मुझे याद है, मुझे नहीं मालूम कि ईश्वर ने मुझे कभी भी लगातार इतनी बड़ी मात्रा में दिव्य उल्लास दिया है। दुश्मनों से घिरे रहने पर भी, मुझे कठिनाइयों का इतना कम अनुभव पहले कभी नहीं हुआ था।" उनको पता भी नहीं चला कि तीन महीने कैसे बीत गए।

तीन ही महीनों में तेरनाते की राजनीति में बहुत उलटफेर हो गया था। तावारीजा के राज्य पर ग्यारह वर्ष शासन करने के बाद अपने दुराचरण के कारण हारून, तेरनाते के कप्तान फ्रिस्तास द्वारा बंदी बना कर १५४५ में गोआ भेज दिया गया। उधर गोआ में तावारीजा निर्दोष ठहराया जा चुका था। लेकिन खीस्त मत स्वीकार कर तेरनाते लौटते समय १५४५ की ३० जून को मलक्का में उसकी मृत्यु हो गई। उसके कुछ ही समय बाद हारून मलक्का पहुंचा, कप्तान द गार्सिया ने उसकी बेड़ियां खोल उसे गोआ भेज दिया, जहां वह दोषमुक्त कर दिया गया। सन्त फ्रांसिस के मोरो पहुंचने के कुछ ही समय पहले वह तेरनाते पहुंच चुका था। अब फ्रिएतास की बारी थी बेड़ियां पहनने की। उसकी जगह नए कप्तान बरनारदीन द सुज़ा हारून को लेकर तेरनाते आए और अपना नया पद ग्रहण कर चुके थे।

सन्त ने हारून को पापपंक से निकाल कर खीस्तमत में लाने की बड़ी चेष्टा

की। लेकिन सुल्तान से यह नहीं हो सका। ख्रीस्तमत स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं थी, कठिनाई थी ख्रीस्तमत के सिद्धांतों के अनुसार चलने में।

सुल्तान के लिए अपनी बीवियों से अलग होना अत्यन्त कठिन था, और एक दो की बात रहती तब तो, सौ से अधिक के प्यार को निर्दयतापूर्वक ठुकरा देना उस मिट्टी के पुतले के लिए कहां संभव था। इस्लाम पर से उसका विश्वास बहुत पहले हट चुका था, लेकिन ख्रीस्तमत के कठिन सिद्धांतों को स्वीकार करने की उसमें ताकत नहीं थी। फिर भी संत फ्रांसिस के प्रति उसका प्रेम अटूट था। इस गहरी मित्रता के विषय में संत ने अपने पत्र में लिखा है, "राजा ने मेरे प्रति ऐसा मित्रभाव दिखाया कि राज्य के प्रमुख मुसलमान उससे नाराज हो गए। वह मेरी मित्रता चाहता था और कालान्तर में ख्रीस्तमत स्वीकार करने का उसने मुझे आश्वासन दिया था।" लेकिन मनोबल विहीन हारून रखेलियों से इस जीवन में मुक्त नहीं हो सका।

१५४७ का चालीसा

जब सन्त फ्रांसिस तेरनाते पहुंचे तो चालीसा निकट आ रहा था। उन्होंने मित्रों के आग्रह और अपने नवशिक्षित ख्रीस्तीयों के प्रेमवश तेरनाते में तीन मास और रुक जाने का विचार किया। १५४७ का चालीसा उनके लिए बड़ा महत्त्व-पूर्ण था। वे दिन में दो बार लोगों को उपदेश और बच्चों और देशीय स्त्रियों को धर्मशिक्षा देते। यहां भी संध्या को वे एक छोटा जुलूस लेकर नगर की गलियों से गुजरते और घंटी बजा कर लोगों से आग्रह करते कि शोधक अग्नि की आत्माओं और पाप की दशा में रहनेवाले वहां के नागरिकों के लिए प्रार्थना करें। नागरिकों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार के काम से नगर के याजकों में भी नया जोश आया। उन्होंने वचन दिया कि सन्त द्वारा शुरू की गई धर्मशिक्षा की रीति तथा लोगों से प्रार्थना कराने की विधि जारी रखेंगे।

सन्त के प्रस्थान का समय निकट आ रहा था। पुनरुत्थान पर्वोत्सव के बाद वे तेरनाते से विदा होनेवाले थे। यह अति दुखमय समय था और परस्पर प्रेम का बंधन इसे और भी दुखदायी बना रहा था। इस दुःख को कुछ हल्का करने के अभिप्राय से सन्त ने आधी रात की निस्तब्धता में नगर छोड़ने का निश्चय

किया। लेकिन उनके षड्यन्त्र की भनक लोगों को मिल गई और जव वे नाव पर चढ़ने लगे तो उनके और उनके मित्रों के आंसू के खारेपन से समुद्र भी लजा गया होगा।

आम्वोइना पहुंच कर सन्त ने पुनः धर्मशिक्षा और रोगियों की सेवा में हाथ डाला। वे दिन भर पापस्वीकार में उन अभागों की करुण कहानी सहानुभूति-पूर्वक सुनते। आम्वोइना वंदरगाह में लगे चार वड़े जहाजों के यात्रियों से उन्हें दिन भर का काम मिल जाता था। सन्ध्या को वे पुनः अपने प्यारे रोगियों की सेवा में हाजिर हो जाते। एक वार वे किसी रोगी की सेवा में लगे थे। वेचारे का अन्तिम क्षण निकट था। जव उसके प्राण पखेरु उड़ गए तो सन्त के होंठ अनायास वड़वड़ा उठे, "धन्य है तू प्रभु, जो मुझे ठीक समय पर इस व्यक्ति की आत्मा के सहायतार्थ यहां लाया।" उन चार जहाजों पर वहुत से सैनिक थे, और उसी के अनुपात से झगड़ा-फसाद भी। सन्त का वहुत-सा समय उनके झगड़े के निपटारे तथा उनमें मेल कराने में लग जाता था।

तव आम्वोइना से भी कूच करने का समय आ गया। सन्त फ्रांसिस अपने साथ द एइरा और दस मलय वालकों को लेते चले। ये वालक सन्त की आशा थे। उन्हें गोआ के कालेज में खीस्त-सिद्धांतों में परिपक्व कर मातृभूमि भेजना सन्त की अभिलाषा थी। आम्वोइना से मलक्का पहुंचने में दो मास लगे। रास्ते में जहाज पर सैनिकों के वीच शान्ति वनाए रखना आसान नहीं था। नीरोगों की आध्यात्मिक देखरेख करनी थी, रोगियों की सेवा उपचार और मृतकों को माता गिरजा की अन्त्येष्टि विधि के अनुसार जल समाधि। इन कामों में दो मास वीतते देर नहीं लगी।

तीन येसुसमाजी सहयोगी

मलक्का में तीन येसुसमाजी सन्त फ्रांसिस की प्रतीक्षा कर रहे थे : जौन वइरा, नुनुस रिवेरो और निकोलस नुनेस। इन वीर सेनानियों को सन्त ने मलुक्का के लिए वुला भेजा था। निकोलस नुनेस संसार के वैभव को ठुकरा संत फ्रांसिस की पुकार सुन कर शाश्वत संपदा की खोज में निकले थे। विद्यार्थी जीवन की सफलता का जादू निकोलस पर नहीं चल सका। हृदय हाथ में लेकर

वे आए थे और उनका उपहार पचास वर्ष का अन्त होते-होते मोरो में स्वीकृत हो जाएगा। कालान्तर में रिवेरो शहीद के पद पर सम्मानित हुए और वेइरा को नौ वर्षों तक मृत्यु से युद्ध करना पड़ा। अन्त में उन्हें अपने प्राणों से भी मूल्यवान अपने मस्तिष्क का बलि देना पड़ा।

दो वर्ष के बाद सन्त फ्रांसिस अपने समाज बंधुओं से मिल रहे थे। यह मिलन भी कैसा क्षणभंगुर था। अगस्त महीने में चार वीरों ने पुनः रणभूमि के लिए प्रस्थान किया, कठिनाइयों से लड़ने, मृत्यु का आलिंगन करने, ख्रीस्त की ज्ञान-मुक्ता की प्रभा फैलाने, उनकी प्रेम-शिक्षा का सौरभ बिखेरने। संत फ्रांसिस के लिए यह सांत्वनापूर्ण मास अति शीघ्र समाप्त हो गया। वे पुनः मलक्का की आध्यात्मिक सेवा में संलग्न हो गए।

इन नए मिशनरियों के प्रस्थान के बाद अगस्त महीने केअन्त में मलक्का के नील गगन पर आशंका के बादल फिर मंडराने लगे। ऐसा जान पड़ता था कि निकटवर्ती सुल्तान पुर्त्तगाली सत्ता की जड़ उखाड़ कर ही दम लेंगे। सुमात्रा के उत्तरी छोर पर अचीन सल्तनत कायम थी। आसपास के सुल्तानों में अचीन का सुल्तान सबसे शक्तिशाली था। उसने पुर्त्तगालियों की बस्ती जला डालने का नारा बुलंद किया। १५४७के अगस्त में उसका बेड़ा रात के अंधियारे में मलक्का खाड़ी में घुसा, खून से लिखी चुनौती पुर्त्तगाली कप्तान सिमोन द मेल्लो के पास भेजी गई। उत्तर का इंतजार हो रहा था, लेकिन जवाब नहीं आया। पुर्त्तगालियों के पास बहुत थोड़े लड़ाकू जहाज बचे थे। इस पर अचीनी सैनिक लूट-पाट मचा कर वापस चले गए। किन्तु सारे मलक्का पर आतंक का कुहरा छाया रहा। अचीनियों का कोई विश्वास न था, वे किसी भी समय उपद्रव और आक्रमण कर सकते थे। लौटने की अपेक्षा शत्रु का पीछा करने में ही भविष्य के कष्टों से बचने की आशा थी। लेकिन चन्द नावें लेकर ऐसे दुश्मन का पीछा करना भी तो ऊखल में सिर देना था। इस संकल्प-विकल्प में सन्त फ्रांसिस ने राय दी। टूटे जहाजों में ही अचीनियों का पीछा करने में हमारा कल्याण है। अपनी व्यक्तिगत धारणा के बावजूद कप्तान ने सन्त की बात मान ली और दस जहाजों का बेड़ा लुटेरों की खोज में भेजा। दिन सप्ताह में बदल गए, लेकिन इस अभियान का कोई समाचार न आया।

अच्छा अवसर देख जोहोरे और नितांग के सुल्तान मुआर नदी के मुहाने से मलक्का पर एक साथ आक्रमण करने चले। पुर्त्तगालियों से जोहोरे के सुल्तान को पुरानी शत्रुता थी। वह मलक्का के उस सुल्तान का वंशज था जिससे आल्वु-केर्के ने ममर छीना था। दोनों सुल्तानों ने कूटनीति के सहारे मलक्का पर छाए आतंक को और भी गहन करने की सोची। अपने जासूसों द्वारा उन्होंने शहर में अफवाह फैला दी कि पुर्त्तगाली बेड़ा अचीनियों के कब्जे में पड़कर तहस-नहस हो चुका है। इस खबर ने आग में घी का काम किया। स्वयं कप्तान द मेल्लो हताश हो गए। अचीनियों का पीछा करनेवाले सैनिकों के परिवार निराश होकर ओझों की शरण जाने लगे।

दिसंबर की चौथी तारीख रविवार को उद्ग्रहण गिरजाघर में तिल रखने की जगह न थी। सन्त फ्रांसिस उपदेश दे रहे थे। उनके व्याख्यान का विषय था ईश्वर पर भरोसा। उपदेश खतम होते-होते उनकी आंखें अलौकिक ज्योति से चमक उठीं, जैसे कोई दूर का दृश्य देख रहे हों। अपने श्रोताओं के अल्प-विश्वास की अवहेलना करते हुए उन्होंने ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन के लिए एक वार "हे पिता हमारे और प्रणाम मरियम" पढ़ने को कहा। पुर्त्तगाली बेड़े को अचीनियों पर विजय प्राप्त हुई थी। उसी दिन संध्या को मरियम गिरि गिरजाघर में उन्होंने सवेरे की बातें दुहराई और विजय की पक्की खबर आने का दिन भी बता दिया। विजयी पुर्त्तगाली बेड़े पर से सर्वप्रथम उतरनेवाले अलफोंसो फरनान्दस नामक सैनिक के बयान से, सन्त फ्रांसिस के वचन की सत्यता स्पष्ट हो गई।

जापान की खबर

१५४७ के दिसंवर में सन्त फ्रांसिस को एक ऐसी खबर मिली जो एक नए प्रदेश की अर्गला खोलने की कुंजी थी। यह पीतवर्ण लोगों के देश जापान की खबर थी, भारत और मलाया से बिलकुल भिन्न। सन्त का पर्यटनशील हृदय इस नए देश का वर्णन सुनकर प्रसन्नता से मचल उठा।

सन्त फ्रांसिस मरियम गिरि गिरजाघर में किसी का विवाह-संस्कार सम्पन्न कर रहे थे। एकाएक जौर्ज आलवारेज नामक नाविक के साथ चिपटी नाक,

पतली आंख, पीत वर्णवाले एक पैंतीस वर्षीय युवक ने गिरजाघर में प्रवेश किया। दो वर्ष की लगातार चेष्टा के बाद आंजीरो सन्त फ्रांसिस से मिलने में सफल हुआ था। आंजीरो ही उस जापानी का नाम था। पहले ही मिलन में वह सन्त फ्रांसिस पर मुग्ध हो गया, जैसे मृग वांसुरी की तान पर। यह मिलन वड़ा महत्त्वपूर्ण था, संत फ्रांसिस के लिए, आंजीरो के लिए, उसकी मातृभूमि जापान के लिए और समस्त गिरजा के लिए।

आंजीरो का जीवन चेष्टाओं से भरा था। दो वर्ष पूर्व एक अदने से झगड़े में संयोगवश उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी की हत्या कर दी थी। यद्यपि उसने मृत्यु दंड के योग्य कार्य नहीं किया था, उसे मृत्यु का डर लगा रहता था। जान बचाने और अपनी आत्मा को ग्लानि से मुक्त करने के उसने एक बौद्ध मठ की शरण ली। वह स्वयं बौद्ध मतावलंबी था। लेकिन मठ में भी उसको शान्ति न मिली। जान तो कुछ दिनों तक बची रही, पर आत्मभर्त्सना दूर नहीं हुई। बौद्ध भिक्षुओं के पास इसकी दवा न थी। मनुष्य निर्बल होता है और सदा पाप में गिरता रहता है। पाप द्वारा वह अपने इष्टदेव से अलग हो जाता, कृपा खो देने के कारण वह शान्ति और सच्चे सुख के अविरल स्रोत, ईश्वरीय जीवन से दूर भटक जाता है। ईश्वरीय जीवन के आगमन से ही पाप क्षमा हो सकती है और मनुष्य सच्ची शाँन्ति अनुभव कर सकता है। आंजीरो को पाप-क्षमा की जरूरत थी। शांति की खोज में आंजीरो कागोशिमा बन्दरगाह पर लगे जौर्ज आल्वारेज के जहाज पर पहुंचा। शायद फिरंगियों के पास वह अचूक दवा मिल जाए। आल्वारेज ने अपने इस नए मित्र से सन्त फ्रांसिस की चर्चा की। लेकिन सन्त फ्रांसिस उस समय कागोशिमा से तीन हजार मील दूर पाप में गिरे लोगों को ईश्वर से क्षमा दिलाने में लगे थे। आंजीरो की तमाच्छन्न आत्मा में आशा की किरण चमक उठी। ऐसे धर्मात्मा से मिलने के लिए वह व्यग्र हो उठा। आल्वारेज का जहाज उस वर्ष के अन्त तक मलक्का पहुंचा।

विधि का विधान, उस समय सन्त मलक्का के लिए प्रस्थान कर चुके थे। आंजीरो को बड़ी निराशा हुई। लेकिन उसने खीस्तमत का अध्ययन शुरू कर दिया। काफी ज्ञान हासिल कर लेने पर भी मलक्का के विकर अलफोंसो मार्टिनेज ने उसे बपतिस्मा देना समयोचित न समझा। उस समय सन्त फ्रांसिस

तेरनाते का पाप कलुषित वातावरण शुद्ध करने में लगे थे। उनकी खोज में मलुक्का जाने की कोई आशा न थी। निराश आंजीरो ने अपने पैर फिर मातृभूमि की ओर उठाए। चीन सागर से होकर उसका जहाज जापान की ओर चल पड़ा। लेकिन आंजीरो के भाग्य ने फिर पलटा खाया। जापान कुछ ही दूर था कि भीषण आंधी की चपेट में पड़ जहाज भूलता-भटकता चीन के तट से जा लगा। वहां उसकी भेंट फिर जौर्ज आल्वारेज से हुई। उसकी करुण कहानी सुन कर आल्वारेज ने उसे पुनः मलक्का जाकर संत फ्रांसिस से मिलने की राय दी, वे अब तक अवश्य मलुक्का में लौट आए होंगे। वीर आंजीरो एक बार फिर चीन सागर की भयानक, उत्ताल तरंगों से लड़ता-भिड़ना मलक्का की ओर लौटा। इस बार उसकी वीरता पुरस्कृत हुई।

संत फ्रांसिस ने इस नवागंतुक से जापान संबंधी अनेकों प्रश्न किए, वहां की राजनीतिक, निवासियों का रहन-सहन, भाषा आदि सब प्रकार के विषयों पर बातें हुई। अन्त में उन्होंने पूछा, "क्या जापानी खीस्तमत अपनाएंगे ? इसका उत्तर आंजीरों ने बड़ी कुशलता से दिया, "नहीं, तुरंत नहीं, वे आपसे अनेकों प्रश्न करेंगे। तब देखेंगे कि आप स्वयं अपनी शिक्षा का पालन करते हैं या नहीं। यदि आपका जीवन आपकी शिक्षा के अनुकूल होगा, तभी वे आपकी शिक्षा को सहर्ष स्वीकार कर लेंगे।" आंजीरो की ये बातें सुन और ऐसी पटुता में भी इतना सीधापना देख संत को निर्णय करते देर न लगी। दूसरे ही महीने उन्होंने कोचिन से अपने रोमी बंधुओं के पास लिखा, "यह मेरी निश्चित धारणा है कि दो वर्ष समाप्त होते न होते मैं या हमारे समाज का कोई दूसरा सदस्य जापान के लिए रवाना हो जाएगा। यह यात्रा बहुत खतरनाक है, चीनी जलदस्युओं के कारण जो उन समुद्रों में उत्पात मचाते रहते हैं और भीषण आंधियों में पड़ कर बहुत से जहाज खो जाया करते हैं।"

आंजीरो से मिलने के आठ ही दिन बाद सन्त फ्रांसिस ने अपनी आंखें भारत की ओर उठाईं। दिसंबर समाप्त हो रहा था। ये आठ दिन बड़े लाभदायक सिद्ध हुए। वे जापान के विषय में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करते रहे। जौर्ज आल्वारेज से उस देश के विषय में एक पुस्तिका लिखने का

आग्रह भी किया, जहां के लोग अपनी कितावें ऊपर से नीचे पढ़ते, वांस की शलाकाओं के सहारे भोजन करते, अतिथि-सेवा को धर्म मानते, धीमे स्वर में वातचीत करते और आगंतुकों से प्रश्न करते कभी न थकते।

इस वार संत फ्रांसिस अकेले यात्रा कर रहे थे। उन्होंने द एइरा को नवंवर में ही मलक्का के दस वालकों के साथ एक व्यापारी जहाज पर भारत भेज दिया था। उसका येसुसमाज में भर्ती होने का परीक्षण-कार्य समाप्त हो चुका था। लेकिन येसुसमाज उसके स्वभाव एवं प्रवृत्ति के अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ, अतः उसने फ्रांसिस समाज में ही प्रवेश किया। आंजीरो भी सन्त फ्रांसिस के साथ नहीं जा सका। कृतज्ञतावश उसे अपने हितैषी आल्वारेज के जहाज के लिए दो-तीन दिनों तक ठहर जाना पड़ा। उसे गोआ ले जाना अच्छा समझ संत ने उसका वपतिस्मा स्थगित कर दिया था। गोआ में उसे विशेष प्रशिक्षण दी जा सकती थी। इस प्रशिक्षण की उसे नितांत आवश्यकता भी थी, क्योंकि संत फ्रांसिस उसे अपनी मिशनरी मंडली का नायक वना कर जापान भेजने की सोच रहे थे।

इतनी दूर यात्रा कर संत फ्रांसिस मीन-तट पर के अपने प्यारे खीस्तीयों से मिलने दो वर्षों के वाद जा रहे थे।

पुनः भारत

इस वार संत फ्रांसिस की भारत यात्रा वड़ी भयावह रही। वंगाल की खाड़ी में जहाज तीन दिनों तक आंधी के थपेड़े खाता आगे वढ़ने की कोशिश करता रहा। वचने की आशा न देख कप्तान की आज्ञा से यात्रियों के असवाव वारी-वारी समुद्र में फेंके जाने लगे। ऐसी भयंकर आंधी में सन्त फ्रांसिस पहले कभी न पड़े थे। लोगों के करुण क्रन्दन और भयातुर मुखमंडल से सारे जहाज पर एक काला विषादपूर्ण वातावरण छा गया। यात्रियों की हालत देख सन्त फ्रांसिस का भी हृदय कांप उठा। लेकिन ईश्वर पर उनकी आस्था अटल रही। कप्तान और उनका दल जहाज को इस भयानक खतरे में भी संभाल रखने की जवरदस्ती कोशिश कर रहे थे और सन्त फ्रांसिस ईश्वर की दुहाई दे रहे थे, स्वर्ग के सन्त और संसार की युद्धमान गिरजा दोनों की सहायता मांग रहे थ; स्वर्गदूत, साधु कुलपति, शहीद, धर्मपंडितों, सवों के पैर पड़ रहे थे कि खतरे का वादल फट जाए

और आशा की किरण फिर मुस्कुरा उठे। अन्ततः ईश्वर की असीम दया की विजय हुई प्रकृति की विकराल शक्ति पर। खतरा टल गया। वर्षा का सामयिक फुहार पा उनकी आत्मा में अलौकिक शान्ति और सुख तेजी से पनप उठे। १५४८ की तेरहवीं जनवरी को संत का जहाज कोचिन वंदरगाह में लगा। ठोस जमीन पर पैर रखते संत को अवश्य खुशी हुई। दुख की वारी फिर आएगी।

जहाज से उतरते ही उन्हें जो समाचार मिले, उनसे उनकी आत्मा चीत्कार उठी। लगभग तीन वर्ष की अनुपरिस्थिति में अनेकों घटनाएं घट चुकी थीं। वेदना से व्याकुल हो वे सांथोमे से १५४५ में नए भूखंड की खोज में निकले थे। इतने दिनों में वह घाव कुछ भर गया था। लेकिन १५४८ की जनवरी में वे भारत लौटते ही वह पुनः हरा हो गया। लगभग एक वर्ष पहले उनके अंतरंग मित्र मिगुएल वाज़ की चाउल में अचानक मृत्यु हो गयी थी। मिगुएल याजक वर्गी नहीं थे, तो भी उनकी कार्यकुशलता और धर्मपरायणता के कारण उन्हें विकर जेनरल के पद पर आसीन किया गया था। ये यथार्थ में भारतीय खीस्तीयों के शक्तिशाली वाजू थे "गोआ के धर्माध्यक्ष के वैरियों ने वाज की अकाल मृत्यु को हत्या वताया और इसका जवावदेही सीधेसादे धर्माध्यक्ष को ही ठहराया। जव सन्त फ्रांसिस कोचिन पहुंचे तो बूढ़े धर्माध्यक्ष इस मिथ्या दोषा-रोपण की पीड़ा में तड़प रहे थे। उधर वाज के देहावसान की खबर पा दिएगो बोरवा संत पौल कालेज के भूतपूर्व संस्थापक भी अचानक इस संसार से चल वसे। राज्यपाल द सूजा की अवधि समाप्त हो चुकी थी, लेकिन योहन कास्त्रो के आगमन से भारत की स्थिति में कुछ भी सुधार नहीं हुआ था।

पुर्त्तगाली अफसरों की धनलोलुपता से भारतीय खीस्तीयों के संकट बढ़ते ही जा रहे थे। देशी राजा विदेशियों से वहुत ही असंतुष्ट हो गए थे। उन्नीकेरल वर्मा, एक समय संत फ्रांसिस की सहायता से पुर्त्तगालियों के साथ मित्रता स्थापित करने के लिए लालायित था, लेकिन अब लंका से आए फ्रांसिस समाज के अध्यक्ष से उस द्वीप पर मचे कांड की पोल खुल रही थी। लंका के मित्र राजाओं को अब तक पुर्त्तगाली सहाय्य नहीं मिला था। मनार के हत्यारे, राजा चकनास शेखरण के विरुद्ध कोई भी कार्रवाई नहीं की गई थी। कोटे के राजा

भुवनेक वाहू अब तक प्रचारकार्य में अड़ंगा लगाता जा रहा था। और इन सब अत्याचारों में दलित-दमित लोगों की सहायता करनेवाला कोई नहीं था।

पुर्त्तगाली राजा के नाम पत्र

जनवरी की बीस तारीख को सन्त फ्रांसिस ने पुर्त्तगालियों के राजा योहन के पास इन हृदयविदारक वृत्तांतों का विवरण लिख भेजा। राजा को धर्मप्रचार से अत्यधिक दिलचस्पी थी। लेकिन भारत सेइतनी दूर रहकर उन्हें उसकी स्थिति की यथार्थ स्थिति का ज्ञान बिलकुल नहीं था। संत फ्रांसिस का पत्र ऐसा दुखभरा है कि स्वयं संत फ्रांसिस उसे लिखना नहीं चाहते थे। लेकिन अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए उन्हें ऐसा करना ही पड़ा। भारत की स्थिति में सुधार लाना अत्यावश्यक था और इस हेतु वे सुझाव भी पेश करते हैं। राज्यपाल के जरिए पुर्त्तगाल भारत का शासन भार संभालता था। तीन-तीन वर्ष पर नए गवर्नर नियुक्त किए जाते थे। यदि राज्यपाल कुशल होते और धर्मप्रचार के कार्य में दिलचस्पी रखते तो भारत का कायापलट हो जाता। यदि धनलोलुप पुर्त्तगालियों पर कुछ कड़ाई करते और देशी राजाओं के प्रति उदारता की नीति बरतते तो धर्मप्रचार का कार्य कुछ अंश तक सुगम हो सकता था। यदि राजा योहन इन सब कामों में राज्यपालसे सख्त हिसाब लें और लापरवाह राज्यपालके पुर्त्तगाल लौटने पर उसकी सारी संपत्ति जब्त कर दया संघ को दे दें और अपदस्थ अधिकारी को कुछ दिनों तक नजरबंद रखें तो सभी राज्यपाल अपना कार्य उत्साह और सावधानी से करेंगे। लेकिन किसी तरह की पाबंदी नहीं रहने के कारण ये राज्यपाल या तो अपना कर्त्तव्यपालन नहीं करते या करते भी हैं तो बड़ी ढिलाई से। संत का यह सुझाव कठोर अवश्य था; कितने तो कहते हैं कि यह कठोरता संत फ्रांसिस के कोमल तथा दयालु स्वभाव के अनुकूल नहीं।

संत फ्रांसिस का स्वभाव कोमल तथा दयालु अवश्य था, इस दयालुता तथा स्निग्धता का एकमात्र स्रोत था वह खीस्त प्रेम जिसमें उनकी आत्मा का अंश प्रति अंश पगा हुआ था। खीस्त प्रेम से वे सराबोर थे और खीस्तप्रेम से सराबोर वे करना चाहते थे इस संपूर्ण विश्व को। यही उनका साध्य था, एक मात्र लक्ष्य। इस लक्ष्यसिद्धि में यदि कोई बाधा आती, तो उसे वे उसी निर्ममता से

दूर करते थे जिस प्रकार एक कुशल डाक्टर रोगी की जान बचाने के लिए उसके अस्वस्थ और खतरनाक अंग को काटकर फेंकने के लिए तत्पर रहता है। यदि रक्षक ही भक्षक-सा आचरण करे तो क्या निदान है? तत्कालीन पुर्त्तगालियों की गति-विधि सर्वविदित है। इतिहास इसका साक्षी है। खीस्तमत प्रचार के नाम पर जो-जो काण्ड उनमें से कुछ लोगों ने रचे हैं वे भी कभी श्लाघ्य नहीं कहे जा सकते। यदि दुराचारियों के प्रति संत फ्रांसिस का रुख कठोर रहा तो यह उतना ही न्यायसंगत है, जितना किसी दंडसंहिता की कोई भी धारा। अपने कोमल तथा मातृसुलभ प्रकृति के अनुसार ऐसे कठोर सुझाव पेश करते समय उन्हें घोर यंत्रणा हो रही थी, यह उन्होंने स्वयं कहा है। लेकिन कर्त्तव्य के सामने चाहने या न चाहने का प्रश्न ही नहीं उठता। काश! उनका सुझाव स्वीकृत हो जाता! तब पुर्त्तगाली भारत के इतिहास पर इतने काले धब्बे नहीं दीखते। उनका भी अतीत उतना ही गौरवपूर्ण होता जितना खीस्तीय शिक्षा का।

अपने रोमी बंधुओं के नाम लिखे पत्र में संत फ्रांसिस ने सुदूर पूर्व के तीन वर्षों का रोचक वर्णन किया है। यह पत्र पाँच हजार शब्दों का है। उन्होंने सन्त इनीगो से पुनः प्रचारक भेजने की प्रार्थना की है, ऐसे प्रचारक जो कठिनाइयों को बर्दाश्त कर सकें और जिनका चरित्र सब प्रकार के गुणों से समुज्ज्वल हो। सिमोन रोद्रिगेज से उन्होंने यही अपील दुहरायी तथा पुर्त्तगाली राजा को भारत की हालत से भली भाँति अवगत कराने का अनुरोध भी किया कि पुर्त्तगाली बस्तियों में धर्म की अपेक्षा धन को प्राथमिकता न दी जाए।

प्यारे परिया लोगों से मिले

यूरोप पत्र लिखकर सन्त फ्रांसिस अपने प्यारे परिया लोगों को देखने मीन-की तट चले। उनसे मिले तीन वर्ष हो गए थे। इन तीन वर्षों में उनको और उनके धर्म गुरुओं को कितने कष्ट सहने पड़े थे। मीन-की तट का कार्य भार पांच येसुसमाजियों और कुछेक अन्य पुरोहितों के कंधों पर पड़ा था। सन्त फ्रांसिस की अनुपस्थिति में समाज के बंधुओं ने अन्तोनियों क्रिमिनाली को अपना अध्यक्ष चुना था। अलफोंसो सिप्रियन की उम्र ढल रही थी। साठ वर्षों के

वाद शरीर में युवक की चपलता नहीं रह जाती त्रिवांकुर में मान्नुएल मोराइस मुसलमानों के गुलाम का जीवन भुगत चुके थे। फ्रांसिस हेनरीकेस को भी वह कटु अनुभव हो चुका था। हेनरी हेनरीकेस का अधिकार तामिल भाषा पर दिनानुदिन बढ़ते देख संत फ्रांसिस को अत्यन्त संतोष हुआ। इन कार्यशील बंधुओं का उत्साह और उत्तेजित करने के लिए सन्त ने एक कार्यक्रम तैयार किया। सबों को मनपाड़ बुलाया और मिशिनरी तरीकों के विषय में उन्हें एक संभाषण दिया। इसे और स्थायी बनाने के लिए वे उस संभाषण को लिपिबद्ध रूप में उनके पास छोड़ते गए। ये आदेश क्या थे? उनकी आत्मा और उनको मूर्त्त रूप में देखने के लिए मीन-तट के बंधुओं को केवल अपने प्यारे फादर फ़्रांसिस की ओर आंखें उठाने की जरूरत थी। एक भी बात ऐसी न थी जिसका अभ्यास स्वयं सन्त फ्रांसिस ने नहीं किया था, जिनको उन्होंने स्वयं नहीं आजमाया था।

बच्चों के प्रति उनके सहज प्रेम का हम पर्याप्त उदाहरण देख चुके हैं। भारत बाल मृत्यु का घर है। कितने बच्चे जीवन का दो घंटे भी अनुभव किए बिना इस जगती से चल बसते हैं। अपनी लापरवाही से उन्हें स्वर्ग के आनंद से वंचित कर देना कितनी बड़ी जवाबदेही है। इस लिए किसी गांव में पहुंच कर यथाशीघ्र वहां के बच्चों को बपतिस्मा देना प्रत्येक पुरोहित का कर्त्तव्य होना चाहिए। यह काम इतना आवश्यक है कि इसका भार किसी दूसरे के हाथ नहीं छोड़ा जा सकता। आज के बच्चे ही कल के पिता हैं। उनकी शिक्षा पर भावी संतान की धार्मिक भावनाएं निर्भर करती हैं, ये ही पवित्र गिरजा के भावी स्तम्भ हैं। इसलिए इनकी शिक्षा पर पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। और शिक्षा देने का सबसे अच्छा और सुगम तरीका है सत्संग। अतः उन्हें सदा अपने साथ रखना, किसी भी धार्मिक कार्य, विशेषतः रोगियों को देखने जाते समय उन्हें अपने साथ लेते जाना चाहिए। प्रेम के बिना शिक्षा नहीं दी जा सकती। यदि कोई बालक किसी प्रकार की भूल करे, तो उसे सप्रेम-सहर्ष क्षमा कर देना चाहिए। बच्चों के बाद रोगियों का स्थान आता है। उनकी सेवा के लिए सदा तत्पर रहना आवश्यक है।

मृतकों के दफ़न के लिए भी संत ने एक विशेष कार्यक्रम निर्धारित किया।

सामान्य खीस्तीय जनता के साथ दया और प्रेम का व्यवहार बनाए रखना चाहिए। गरीब खीस्तीयों की आर्थिक सहायता खुले हाथ करनी चाहिए। इसलिए, दान में जो कुछ प्राप्त हो सब गरीबों में बांट दिया जाए। हरएक मिशनरी का अपना निश्चित कार्यक्षेत्र होता है, वहां से अपने अध्यक्ष की अनुमति बिना किसी दूसरी जगह जाना कर्त्तव्यपरायणता में शिथिलता को स्थान देना है।

बच्चों की शिक्षा के बाद बड़ों की शिक्षा का प्रश्न आता है। यह भी बहुत जरूरी है। धर्मशिक्षा के लिए स्त्रियां शनिवार को बुलाई जाएं और मर्द रविवार को, क्योंकि सप्ताह के अन्य दिन उन्हें कार्य से अवकाश नहीं रहता। सब लोगों में प्रेमभाव और मेल रहना चाहिए। इसलिए यदि दुर्भाग्यवश कभी झगड़ा-तकरार हो जाए तो अविलंब द्वेष और कटुता को दूर कर उनमें प्रेम और शान्ति स्थापित करनी चाहिए। यदि लोगों में त्रुटियाँ या कमजोरियां नजर आएं तो उनका ध्यान उस ओर आकृष्ट करना आवश्यक है, लेकिन किसी भी हालत में उनकी आलोचना या चर्चा पुर्त्तगालियों के समक्ष न की जाए। अन्त में सन्त फ्रांसिस ने वह अमूल्य मूल मंत्र उन्हें सिखाया, जिससे उनका अंग-प्रत्यंग अनुप्राणित था। अपनी सारी शक्ति से लोगों का प्रेम भाजन बनन की कोशिश करें, उनकी हरएक बात काम या विचार प्रेम से ओतप्रोत हो, और दूसरों की दुर्बलताएं सहिष्णुतापूर्वक बर्दाश्त करें।

एक अनुभवी कार्यकर्ता के मुंह से ऐसी सलाहें सुन मीन-तट के मिशनरी आशा और उत्साह से परिप्लावित हो पुनः अपने अपने स्थान को रवाना हो गए। और सन्त जैसे अपने प्यारे परिया लोगों के संकटों का निवारण करने पुर्त्तगाली राज्यपाल से मिलने आए थे, वैसे ही कन्याकुमारी का दौरा करते हुए गोआ लौट गए। फरवरी के अन्त तक वे कोचिन पहुंचे और मार्च का शुरू होते-होते गोआ की ओर बढ़ गए। गोआ पहुंचने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि योहन कास्त्रो मुसलमानों का आतंक दूर करने डिउ गए हुए हैं। अपने विरोधियों को पराजित कर राज्यपाल ने कुछ समय के लिए बसीन को अपना निवासस्थान बना लिया था। गोआ में नौ दिन रहकर संत राज्यपाल से मिलने बसीन की ओर बढ़े राज्यपाल के आग्रह से संत ने चालीस उपदेश दिए। इसको सुनने के लिए अमीर

उमरावों की भीड़ उमड़ पड़ती थी। स्वयं राज्यपाल बड़े ध्यान और चाव से संत फ्रांसिस के अमृत वचन सुनते थे। इसी समय सन्त फ्रांसिस और पुर्त्तगाली राजा के इस प्रतिनिधि के बीच गहरी मित्रता शुरू हुई। द कास्त्रो एक वीर योद्धा थे और वीरों को पहचानने में उनकी आंखें तेज थीं। उनमें उनका सम्मान करने का हृदय भी था। और सन्त फ्रांसिस ईश्वर भक्त थे, प्रेम उनका जीवना-वलम्ब था। गोआ से सन्त तुरन्त कोचिन लौट जाना चाहते थे, वे राज्यपाल की प्रार्थना अनसुनी न कर सके। शायद निकट भविष्य में होनेवाली घटना का पूर्वाभास दोनों को मिल गया था। द कास्त्रो बराबर सन्त फ्रांसिस से धार्मिक विषयों पर वार्त्तालाप करते और उनकी दी सलाहों पर अमल करने की जी जान से कोशिश करते रहे।

अप्रैल की दूसरी तारीख को संत फ्रांसिस ने अपने मित्र दिएगो परेरा के नाम पत्र लिखा। इस पत्र में उन्होंने एक स्पेनी युवक रामीरेज पर कृपा दृष्टि रखे रहने की याचना की। रामिरेज अपने माता-पिता से मिलने स्वदेश जाना चाहता था, लेकिन पैसे के अभाव से उसे जहाज में जगह नहीं मिल रही थी। संत फ्रांसिस ने परेरा से आग्रह किया कि वे इस युवक को कुछ काम दे दें तो इसे स्पेन का किराया मिल जाए। परेरा कोचिन में अपनी चीन यात्रा की तैयारी में लगे थे। वे भारत से माल लेकर चीनियों के हाथ बेचकर माला माल हो गए थे। रामिरेज के प्रति उदारता दिखाने में उनकी कोई विशेष क्षति नहीं हो सकती थी।

मलक्का की याद सन्त के भुलाए नहीं भूलती थी। वहां जो सुधार वे कर आए थे, उन्हें बनाए रखने के लिए मिशनरियों की नितांत आवश्यकता थी। आठवीं अप्रैल को कोचिन से एक पुर्त्तगाली जहाज मलक्का जा रहा था। मलक्का के नए कप्तान दोन पेद्रो द सिल्वा भी पदभार ग्रहण करने उसी पर जा रहे थे। सन्त फ्रांसिस ने गोआ कालेज के अध्यापक फ्रांसिस पेरेज़, एक नवयुवक रोकुस द ओलिविएरा को मलक्का के पुर्त्तगालियों की आध्यात्मिक देखरेख तथा बच्चों की शिक्षा के लिए उसी जहाज़ पर राज्यपाल के साथ भेज दिया।

सन्त पौल कालेज में जापानी आंजीरो अपने दो साथियों के साथ ख्रीस्त के सिद्धांतों के अध्ययन में तन्मय था। उसके दो साथियों में एक उसका नौकर

भी था। वह ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा पर दिन-दिन मुग्ध होता जा रहा था। एक बार उसके अन्तर्भाव अपना किनारा तोड़ कर फूट निकले, वह चिल्ला उठा, "हे जापान निवासियो, यह तुम्हारा दुर्भाग्य है कि तुम उन वस्तुओं की आराधना करते हो जो ईश्वर ने मनुष्य की सेवा के लिए बनाई है। जापानियों की सूर्यपूजा की ओर लक्ष्य करके ये बातें कही गई थीं, इससे उसके हृदय में उमड़ते भावों का आभास मिलता है। अन्त को वह प्रधान दिया आया, पेन्तेकोस्त रविवार, मई की बीस तारीख। गोआ के धर्माध्यक्ष ने बड़े समारोह से महागिरजाघर में अपने ही हाथों आंजश्चरो और उसके दो साथियों को बपतिस्मा दिया। आंजीरो को पौल का नाम मिला, उसके नौकर को योहन और तीसरे को अन्तोनियो। संत के व्यक्तित्व का प्रभाव अन्तोनियो पर इतना गहरा पड़ा था कि वह सन्त फ्रांसिस का साथ कदापि नहीं छोड़ना चाहता था।

इस महादिवस के तीन ही सप्ताह के अन्दर गोआ के महान राज्यपाल योहन द कास्त्रो मलेरिया के चंगुल में पड़कर अपनी क्षणभंगुर महिमा को छोड़ इस संसार से चल बसे। भारत में पुर्त्तगाली वैभव के प्रतीक होने पर भी उनकी निजी संपत्ति कुछ भी न बची थी।

प्रायः इसी समय संत फ्रांसिस ने एक प्रार्थनांजलि का संकलन किया। यह उनकी ही प्रार्थना विधि का स्वरूप है। सब प्रकार की प्रार्थनाएं इसमें मिलती हैं, पवित्र त्रित्व के प्रति, कुंवारी माता के प्रति और रक्षक दूत के प्रति। इसे प्रार्थनांजलि न कहकर, ख्रीस्त भक्त की धार्मिक दिनचर्या कहें, तो अधिक उपयुक्त होगा। हरएक ख्रीस्तीय का फर्ज है कि वह प्रातः उठकर ईश्वर का स्मरण करे, प्रेरितों के धर्मसार पर कुछ समय के लिए मनन-चिन्तन कर अपने विश्वास को उत्तेजित करे, और दिन भर के परिश्रम और चिन्ता की चिता पर तपने के बाद आराम करने के पहले उस दिन के किए कार्यों की जांच करे। इस प्रकार यदि दुर्भाग्यवश किसी प्रकार का पाप या भूल हो गई हो, उस पर हृदय से पछता कर ईश्वर से क्षमा प्राप्त करे और अपने को अपने रक्षक दूत के हाथ सौंप कर खाट की अनिश्चित शरण में जाए।

सातवां परिच्छेद

संत पौल का गुरुकुल

पहली बार मीन-तट जाते समय संत फ्रांसिस ने मिगुएल वाज और उनके सहकारियों को वचन दिया था कि सन्त पौल गुरुकुल में अध्यापन कार्य के लिए अन्य ये सुसमाजी भी जाएंगे। ज्यों-ज्यों पुर्त्तगाल से येसुसमाजी कार्यकर्त्ताओं की टोलियां पहुंचती गईं, सन्त पौल गुरुकुल में येसुसमाजियों की संख्या भी बढ़ती गई। ६ साल के अन्दर कालेज में तीन येसुसमाजी अध्यापक बन चुके थे: पौल कामरीनो, जो सन्त फ्रांसिस के साथ ही पुर्त्तगाल से चले थे, निकोलस लांसिलोट्ट और फ्रांसिस पेरेज। इतने वर्षों में सन्त पौल गुरुकुल के विद्यार्थियों की संख्या भी साठ हो गई थी। दूर-दूर से विद्यार्थी यहां आए हुए थे, अफ्रिका, वर्मा, हिन्देशिया और भारत के विभिन्न भागों से मालवार, मीन-तट, तथा बंगाल के भी नवयुवक यहां शिक्षा पा रहे थे। येसुसमाजियों की संख्या भारत में भी बढ़ती जा रही थी। जब सन्त फ्रांसिस राज्यपाल द कास्त्रो से मिलने गोआ से बसीन जाने पर थे, तब चार नवयुवकों ने समाज में भर्त्ती होने की लालसा प्रकट की थी, रोकुस ओलिविएरा, अलफोंस द कास्त्रो, गास्पार रोद्रिगेज और एक स्पेनी धर्मप्रान्तीय पुरोहित कोस्मे द तोरेस। इनमें से रोकुस ओलिविएरा अप्रैल के शुरू ही में मलक्का चले गए। तोरेस की कहानी बड़ी दिलचस्प है। संत फ्रांसिस से उनका परिचय पहली बार आम्बोइना में हुआ था, स्पेनी कैदियों के जहाज पर। अपनी उत्कट आकांक्षा पूर्ण करने की इच्छा से तोरेस स्पेन से मेक्सिको गए और वहां के स्पेनी सेनापति विल्लालोबोस के बेड़े पर मलुक्का और आम्बोइना होते हुए गोआ पहुंचे थे। लांसिलोट्ट के निर्देशन में उन्होंने आध्यात्मिक साधना की थी। अब उनकी वह चिर लालसा, जो वर्षों से उन्हें जला रही थी पूर्ण होती दीख पड़ी। सन्त उन्हें अपने साथ जापान ले जाना चाहते थे। लेकिन उस अभियान तक उन्हें संत पौल में अध्यापन करना पड़ेगा।

फिर मछुओं के बीच

सन्त फ्रांसिस अपने प्यारे मछुओं के बीच काम करने के लिए फिर मीन-तट चले गए। इस बार उन्होंने पुन्नैकायल को अपना केन्द्र बनाया। उनके आने की खबर पहले ही पहुंच चुकी थी। शाही ढंग से उन मछुओं ने संत का स्वागत किया, सड़कों पर कपड़े विछे थे। नगर मेहराबों और पत्तियों से सुशोभित था। लोग संत फ्रांसिस को कंधों पर विठा कर गिरजाघर ले गए। ऐसा स्वागत देख संत फ्रांसिस जैसे पिता का हृदय बाग-बाग हो गया। यह सब उनके कठिन परिश्रम का मधुर फल था। सबके हृदय होते हैं, यह न किसी के सामाजिक स्तर पर निर्भर करता है, न समाज किसी का हृदय छीन ही सकता है।

इधर संत फ्रांसिस का शानदार स्वागत हो रहा था, उधर गोआ में उनके लिए मातम मनाया जा रहा था। किसी ने अफवाह फैला दी थी कि खीस्त के वैरियों ने उन्हें अपने निर्मम तीरों का शिकार बना डाला था। सौभाग्य से उसी समय पुन्नैकायल से अल्फोंसो सिप्रियन और मानुएल द मोराइस साकोत्रा जाते समय गोआ पहुंचे। इनसे परिया लोगों के पुत्रवत् प्रेम की खबर मिली, सब मुक्त कंठ से उन सीधे-सादे मछुओं की प्रशंसा करने लगे। पहली बार भारत आते समय संत फ्रांसिस ने सोकोत्रा निवासियों के लिए पुरोहित भेजने का प्रण किया था। इसी प्रण के पालन के लिए दो धर्मवीर मीन-तट से हटाए जा रहे थे। अब तक पुर्त्तगालियों की धनलोलुपता के कारण संत फ्रांसिस अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सके थे। अब वे अधिक देर करना नहीं चाहते थे।

पुन्नैकायल में सन्त ने मीन-तट के सभी खीस्त-सेवकों को बुला भेजा। और फिर उन्हें अपना सर्वस्व खीस्त की प्रेम-वेदी पर उत्सर्ग कर देने को प्रोत्साहित किया। फ्रांसिस हेनरीकस को छोड़ सभी वहां अपने प्रिय पिता से मिलने आ सके। बेचारे हेनरीकस अपने गरीब मुकवों की रक्षा में लगे थे। पुर्त्तगालियों की सहायता न पाने के कारण मार्त्तण्ड वर्मा ने अपने कुंठित अभिमान का बदला बेचारे मुकवों से ही लेना शुरू किया। चार वर्ष पहले धर्म-प्रचार की जो उसने छूट दी थी, उस पर प्रतिबंध लगा दिया, यहां तक कि उसने फादर फ्रांसिस हेनरीकस को बुलाकर प्रचार-कार्य तुरन्त बंद कर देने की सख्त

आज्ञा भी दी और न मानने पर निर्वासन या मृत्यु की धमकी। लेकिन खीस्त के प्रचारक ऐसी धमकियों से क्या डरते ? मालिकट से कुछ दक्षिण से उन्हें निमंत्रण मिल रहा था और वे चालियन के लिए रवाना हो गए। संत फ्रांसिस को जव इसकी खवर मिली तो उन्होंने हेनरीकस को तुरन्त अपनी जगह जाने की आज्ञा दी तथा भविष्य में अपने अध्यक्ष क्रिमिनाली की अनुमति के विना अपने मिशन क्षेत्र के वाहर न जाने को समझाया। उनके सहायतार्थ वालथाजार नुनेस दक्षिण त्रिवांकुर भेजे गए।

खीस्त सेवकों की मेनहत का फल निराशाजनक कदापि नहीं कहा जा सकता। मीन-तट के उत्तरी भाग में सन्त पौल कालेज का एक छात्र मुसलमानों के क्रूर पंजों में पड़कर भी, उत्पीड़न तथा यातनाओं का सामना कर अपने विश्वास तथा खीस्त-भक्ति में शिलाखंड सा दृढ़ रहा। वहुत कष्टों के वाद वह अत्याचारियों के कब्जे से निकल कर हेनरीकस के पास पहुंचा। यह भक्ति और धर्मभीरुता का अनूठा उदाहरण था; किन्तु एकाकी कदापि नहीं। अनेक वार दल के दल परिया अपनी धर्मरक्षा के लिए घरद्वार छोड़ निकल भागते थे कि ईश्वर की सेवा कर सकें। ईश्वर भी अपने भक्तों का साथ कभी नहीं छोड़ते, वे उनकी रक्षा ही नहीं करते, वरन् अपने असीम ज्ञान के अनुसार अत्याचारियों को उचित दंड भी देते हैं।

दक्षिण त्रिवांकुर में हिन्दू राजा का दमनचक्र चल ही रहा था कि तुति-कोरिन के खीस्तीयों पर एक नई वला आ पहुंची। नया पुर्त्तगाली कप्तान अपने पूर्ववर्ती कप्तान से भी दुष्ट निकला। मीन-तट के सीपी का शिकार करनेवाले मछुए उसके अत्याचार से कराह उठे। करों में अत्यधिक वृद्धि हो गई, और उनकी सुननेवाला कोई न था। वे गुलामों का जीवन बिता रहे थे। मजहव के नाम पर अपना मतलव सीधा करनेवाले इन पुर्त्तगालियों का दुष्टाचरण देख सन्त फ्रांसिस की क्रोधाग्नि भड़क उठी। ऐसे अत्याचार तथा अन्याय का अन्त होना आवश्यक था। ६ वर्ष पहले उन्होंने पुर्त्तगाल के राजा के सामने एक सुझाव रखा था, लेकिन उसका कोई परिणाम नहीं हुआ था। अब उनके क्रियाशील मस्तिष्क ने एक नया उपाय खोज निकाला। यदि सिमोन

रोद्रिगेज; वही रोद्रिगेज़ जो पुर्त्तगाल में राजा के वाद सवसे शक्तिशाली समझे जाते थे, राजा के सर्वाधिकार से सम्पन्न होकर भारत आएं और भारतीय अफसरों की नियुक्ति का अधिकार भी उन्हीं के हाथ में रहे, तो संभव है भारत का विपाक्त वातावरण शुद्ध हो जाए। कोचिन लौट कर संत ने अपने पुराने मित्र सिमोन के नाम इसी आशय का पत्र लिखा।

अन्तोनियो गोमेज

अक्टूबर में संत फ्रांसिस ने अपने प्यारे ख्रीस्तीयों से विदा ली। २२ अक्टूबर को वे कोचिन में थे। कोचिन में उनको मालूम हुआ कि संत पौल के नए अध्यक्ष अपने अन्य तीन साथियों के संग ९ अक्टूबर को ही गोआ पहुंच चुके हैं। इनका स्वागत करने संत फ्रांसिस गोआ चले। अन्तोनियो गोमेज सफल वक्ता थे और कुछ ही दिनों में उन्होंने अपने व्याख्यानों तथा उपदेशों द्वारा गोआ के निवासियों के हृदय में घर कर लिया। जब संत फ्रांसिस नवम्बर के दूसरे पखवारे में गोआ पहुंचे तो सारे नगर को अन्तोनियो गोमेज और गास्पार वेरज का गुणगान करते पाया। उनके आने के कुछ ही दिन वाद नवम्बर १५ को नगर के एक ख्यातिलब्ध ब्राह्मण को सन्त पौल कालेज में श्रीमान धर्माध्यक्ष के हाथ से वपतिस्मा मिला। सारा नगर एक सप्ताह तक खुशियां मनाता रहा, सड़कें सजाई गईं और वाजे-गाजे के साथ जुलूस निकाले गए, जिसमें नगर के प्रमुख ख्रीस्तीय ब्राह्मणों ने भी भाग लिया।

परिया ख्रीस्तीयों की शिकायतों की सूची लेकर संत फ्रांसिस राज्यपाल गार्लिया द सा के यहां पहुंचे। इस मुलाकात में साकोत्रा के विषय में भी वातचीत हुई। वर्ष के शुरू में जहाज भारत से यूरोप जाया करते थे। संत फ्रांसिस दिसम्वर के आरम्भ में कोचिन चले आए और करीव दो महीनों तक यहीं रहे। वसीन और कोइलोन से स्कूलों की मांग आ रही थी। संत ने लांसिलोट्ट को एक धर्मवंधु के साथ कोइलोन भेजा और मेल्किओर गोनसाल्वेज को वसीन।

फ्रांसिस ने जापान जाने का अपना निश्चय अपने यूरोपीय भाइयों से कहा। आंजीरो उर्फ पौल के वर्णन के अनुसार ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा के प्रचार तथा विस्तार के लिए जापान भारत से अच्छा क्षेत्र था। आंजीरो स्वयं अर्धशिक्षित

था, किन्तु ज्ञान की उसे बड़ी भूख थी। सन्त उसे जापानियों का प्रतिनिधि मानते थे और उस पीतवर्ण समुदाय में ख्रीस्त का दिव्य संदेश सुनाने को बहुत लालायित थे। अपने पत्र के साथ उन्होंने जापानी लिपि का एक नमूना भी संत इनीगो के पास भेजा। भारत स्थित ये सुसमाज के भविष्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था कि भारतभूमि पर उसके पनपने की आशा बहुत कम दीखती है।

इसलिए सन्त ने ख्रीस्त के सेवकों की पुनः मांग की, ऐसे ख्रीस्त-सेवकों की जो सब प्रकार के गुणों से सम्पन्न हों, जो चरित्र के पक्के और शरीर के बलिष्ट हों, क्योंकि साधारणतः अख्रीस्तीय देशों में, जहां की संस्कृति और रीति भिन्न है, चरित्र भ्रष्ट होने की संभावना सदा बनी रहती है। उष्ण कटिबन्ध के ताप से झुलसना और प्रचार के दौरों में भोजन की कमी सहकर अपने काम में लगे रहना पड़ता है। जिन्होंने आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ा है, जो स्वभाव के दीन हैं, जो कठिनाइयों से हंसते-हंसते लड़ने और अपने विशाल हृदय में समूचे विश्व को समेट लेने की क्षमता रखते हैं, वे ही भारत की प्राचीन भूमि में ख्रीस्त की शिक्षा का प्रचार सफलता से कर सकते हैं।

यह पत्र संत अपने आध्यात्मिक पिता तथा येसुसमाज के सर्वोच्च अधि- नायक के नाम लिख रहे थे। उनका हृदय प्रेम तथा श्रद्धा से विह्वल हो उठा। आदर और शीलतावश उन्होंने इसे घुटने टेके ही लिखना उचित समझा। अपनी जापान यात्रा की सफलता के लिए उन्होंने इनीगो से याचना की कि एक वर्ष तक संत पेत्रुस के गिरजाघर में उनके इस मनोरथ की सिद्धि के लिए मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाया जाए।

गोआ के नए अध्यक्ष अन्तोनियो गोमेज के विषय में चरित्र पारखी संत फ्रांसिस को चिन्ता होने लगी। इतने ही समय में उन्हें मालूम हो गया कि उस ऊंचे तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पद के लिए गोमेज सर्वथा अयोग्य हैं। उन्होंने संत इनीगो से उनकी जगह दूसरे अध्यक्ष को भेजने का प्रस्ताव रक्खा। "किसी भी अध्यक्ष में विशेषतः दो गुण आवश्यक हैं, पहले तो उसमें आज्ञाकारिता कूट-कूट कर भरी हो। राजा और पवित्र गिरजा के अधिकारी उसे मदान्ध न पाएं

बल्कि दीनता की मूर्त्ति, तभी वे उसे प्यार करने लगेंगे। यह इस कारण कहता हूं कि राजा और माता गिरजा के अधिकारियों की इच्छा है कि उनकी आज्ञाओं का पालन सब प्रकार से हो। यदि हम उनकी आज्ञा का पालन करेंगे तो वे हमें प्यार की दृष्टि से देखेंगे और हमारे मंतव्य पूरे होंगे। नहीं तो, वे बहुत असंतुष्ट हो जाएंगे। दूसरा गुण यह होना चाहिए कि दूसरों के प्रति दया और धैर्य दिखलाएं। उसका व्यवहार कठोर न हो, इससे वह सबों का प्रेम-भाजन बन जाएगा, विशेषतः अपने अधीनस्थों का, ये भारतीय हों चाहे यूरोपीय उन्हें यह कहने का अवसर न मिलना चाहिए कि वह डर दिखाकर अपनी आज्ञा का पालन कराना चाहता है, नहीं तो भारतीय हों चाहे यूरोपीय, सबके सब हमारा समाज छोड़ कर चले जाएंगे और बचे-खुचे ही भर्त्ती होना चाहेंगे।"

आदर्शों का संघर्ष

सन्त फ्रांसिस के यह लिखने का कारण स्पष्ट है। गोमेज से सबके सब तंग आ गए थे। अभी संत फ्रांसिस अक्टूबर के अन्त में मीन-तट से गोआ जा ही रहे थे कि कोचिन में लांसिलोट्ट से उनकी भेंट हुई। लांसिलोट्ट गोआ के सन्त पौल गुरुकुल से आ रहे थे, गोमेज के बर्त्ताव से थककर सन्त से नालिश करने। दस-ग्यारह ही दिनों में गोमेज की नीति स्पष्ट हो चुकी थी। वे यूरोप से बनी बनाई योजना लेकर भारत चले थे। नए देश की नई रीतियों के भंडार से अपने को संपन्न करने नहीं। आते ही, परिस्थितियों की जांच किए बिना या किसी अनुभवी अधिकारी से सलाह लिए बिना, अपनी योजना को कार्यान्वित करने में व्यस्त हो गए। दूसरों के भी विचार अच्छे हो सकते हैं, यह उनकी समझ के परे था, मानों उन्होंने सभी अच्छे विचारों का सट्टा लिखा लिया हो। गोआ में उनके पैर रखते ही कालेज के व्यवस्थापक कोस्मे नुनेस ने कालेज का सारा अधिकार उनके हाथ में सौंप दिया। गोमेज के दिमाग में पुर्त्तगाली नगर कोइम्ब्रा का सुप्रसिद्ध विद्यालय चक्कर काट रहा था, उससे बढ़कर कोई दूसरा विद्यालय खोजने से भी नहीं मिल सकता। कोइम्ब्रा ही गोआ का आदर्श हो सकता है और इसी आदर्श का अनुकरण कर गोआ का गुरुकुल सफलता के सोपान पर चढ़ सकता है।

गोमेज ने देश-काल का कोई विचार किए बिना गुरुकुल का सब कुछ इसी सांचे में ढालने के लिए कमर कस ली। कुछ ही दिनों के अन्दर उनकी इस नीति से भड़क कर लड़के दीवाल तड़प-तड़प कर भागने लगे। गोमेज को इस स्वाभाविक प्रतिक्रिया से कोई चिन्ता नहीं हुई। शायद यह भी उनकी योजना का एक अंश था। उनकी खाली जगहों को वे पुर्त्तगालियों के गौर वर्ण लड़कों से भरने लगे। नए अध्यक्ष के कौशल से सन्त पौल कोइम्ब्रा के ढांचे में ढलने लगा। अन्तोनियो के विचार में भारत स्थित येसुसमाज आत्मनिर्भर बनता जा रहा था। गोमेज की अव्यावहारिकता और उद्दंडता की हद हो गई जब उन्होंने धमकी दी कि यदि कोई उसकी नीति में हस्तक्षेप करने का दुस्साहस करे तो जंजीरों में जकड़ कर पुर्त्तगाल भेजने का अधिकार रखता हूं। १५४९ के आरम्भ में उन्होंने गास्पार वेरजे को चाले में येसुसमाजी विद्यार्थियों के लिए एक गुरुकुल का प्रबन्ध करने को भेजा। संत फ्रांसिस अभी कोचिन में ही थे। संत, वेरजे के साथ तुरन्त गोआ चले। गोआ से वे राज्यपाल से मिलने बसीन गए। जापान जाने के पूर्व वे मलुक्का में नए ख्रीस्तसेवकों को भेजने और तेरनाते में एक स्कूल खोलने का प्रबन्ध ठीक करना चाहते थे। बसीन में उन्हें मालूम हुआ कि सकोत्रा जाने की संभावना अब नहीं रही। अतः उन्होंने सिप्रियन को सांथोमे भेज दिया।

गोआ लौट कर उन्हें सन्त पौल के अधिष्ठाता की समस्या का समाधान ढूंढ़ना पड़ा। उन्होंने अन्तोनियो गोमेज को उस पद से हटाने का निर्णय कर लिया था। और उस पर गास्पार बेरजे को आसीन करना उनका संकल्प था। गोमेज के लिए उन्होंने एक नई जगह खोज निकाली थी, फारस की खाड़ी में, पुर्त्तगाली बस्ती ओरमुज़ में पुर्त्तगालियों की संख्या अधिक थी, उन्हें आध्यात्मिक नींद से जगाने के लिए गोमेज के प्रभावशाली उपदेश कामयाब होंगे। लेकिन इसकी भनक गोमेज को न जाने कैसे पहले ही मिल गई। उन्होंने शीघ्र ही दक्ष परिश्रम से राज्यपाल से लेकर सबसे छोटे पुर्त्तगाली अमला तक को अपनी तरफ मिला लिया। उधर विनम्र बेरजे भी अपनी नियुक्ति पर आपत्ति प्रकट करने लगे। इस प्रकार संत फ्रांसिस अपनी योजना को कार्य का रूप न दे सके। अतः उन्होंने विवश होकर गोमेज की जगह बेरजे को ही ओरमुज़ भेजा। लेकिन

वे किसी भी हालत में संत पौल और भारत स्थित येसुसमाजियों का शासन-सूत्र गोमेज़ के हाथ में नहीं सौंपना चाहते थे। गोमेज की नियुक्ति रोद्रिगेज़ द्वारा हुई थी। अतः सन्त फ्रांसिस उसे सन्त पौल से हटाने में असमर्थ थे। उन्होंने अपनी अनुपस्थिति में पौल कामरीनो को येसुसमाजियों का अध्यक्ष नियुक्त किया। अन्तोनियो से इतना असंतुष्ट होते हुए भी उन्होंने अभी भी उसकी काली करतूतों की पोल अपने किसी भी पत्र में नहीं खोली। हां, उनकी जगह दूसरे अधिष्टाता के लिए निवेदन अवश्य किया।

गास्पार बेरज़े और पौल कामरीनो के कंधों पर संत फ्रांसिस बहुत बड़ी जिम्मेवारी छोड़ रहे थे। इस उत्तरदायित्व का निर्वाह कुशलतापूर्वक करने के लिए दोनों को अलग-अलग लिखित परामर्श दिए। ओरमुज़ एक व्यापारिक केन्द्र था, वहां हर प्रकार के लोगों का आवागमन होता रहता था। वहां सावधानी की बड़ी आवश्यकता थी। सबों से प्रसन्नतापूर्वक सद्भावना और मित्रता के बिना कोई अपने काम में सफल नहीं हो सकता था। लोग एक दूसरे को भ्रम में डालने को सदा प्रयत्नशील रहते हैं। सदा सतर्क रहना चाहिए और दूसरों से वैसा ही वर्त्ताव रखना चाहिए जैसा हम उस व्यक्ति से रखते हैं जो किसी भी समय हमारा शत्रु बन सकता है। किसी को समाज में भर्त्ती करने के पहले उसकी यथोचित ज़ांच करनी चाहिए। किसी से उपहार ग्रहण कर हम अपनी स्वतंत्रता उसके हाथ बेंच देते हैं। इसलिए उपहार स्वीकार करने के पहले सोच-समझ लेना चाहिए। पाप स्वीकार सुनने और उपदेश देने में तत्परता दिखाना पुरोहितों का कर्त्तव्य है, लेकिन दूसरों की आध्यात्मिक सहायता करते समय अपनी आत्मा के कल्याण पर ध्यान नहीं देना मूर्खता ही है।

पौल कामरीनो के कंधों पर पूरब के सभी ख्रीस्त सेवकों का भार था। ऐसे पदाधिकारी को उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्त्ति बड़ी तत्परता और उदारता से करनी चाहिए। सबों के साथ प्यार से मिलना और वर्त्ताव करना चाहिए। ख्रीस्तीय प्यार सबों को गले लगाता है, उसके सामने अपने-पराए या भले-बुरे का सवाल ही नहीं आता। संत फ्रांसिस का हृदय भारत के प्रेम-पाश में बंध चुका था और वे उससे अलग हो रहे थे न जाने कब तक। उनका दिल मसोस उठा होगा, जैसे एक पिता का दिल मसोस उठता है जब वह अपने

प्रिय पुत्रों से अलग होता है। वह उन लोगों के विषय में सब कुछ जानना चाहता है। संत फ्रांसिस की भी यही दशा थी। वे अपने प्रिय पुत्रों के विषय में सब कुछ जानना चाहते थे। पौल को उन्होंने आदेश दिया कि पत्रों में अपने समाजियों की खबर बराबर लिखते रहें।

धीरे-धीरे प्रस्थान की घड़ी निकट आ रही थी। यात्रा लम्बी, अनिश्चित और खतरनाक थी, लेकिन वे अंधेरे में लाठी नहीं चला रहे थे। यात्रा की कठिनाइयों से पूर्ण परिचित थे। उन्हें मालूम था कि चीनी तट से पुर्त्तगाली भगा दिए गए हैं। लेकिन आवाहन तो उससे भी दूर से आ रहा था। चीनी समुद्र के उस पार से जापान उनको बुला रहा था। उसकी पहली पुकार सोलह मास पहले उनके कानों में पड़ी थी। अब उसे और देर तक अनसुनी करना असंभव था। उन्हें ईश्वर की दया और उनके विधान पर विश्वास था। वे सिर पर कफन बांध कर चलने को तैयार हो गए। इस समय उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा है, "ईश्वर, हमारे प्रभु चीन तथा जापान के सागरों में उठनेवाली आंधियों के स्वामी हैं......और चूंकि प्रभु परमेश्वर सर्वशक्तिमान हैं, मुझे किसी का डर नहीं.....है तो केवल ईश्वर का।" उनकी टोली पूरी हो चुकी थी, अल्फोंसो द कास्त्रो मोराइस और फ्रांसिस गोंसाल्वेज उनके साथ तेरनाते जा रहे थे। तोरेस, धर्मबंधु जुआन फरनान्देस और मानुएल चीनी, अमादोर मलयाली, तीन जापानी और सन्त फ्रांसिस जापान के लिए प्रस्थान कर रहे थे।

आठवां परिच्छेद

जापान

अप्रैल की १५ तारीख, जिस दिन गोआ प्रभु येसु के विजय-प्रवेश का पर्व मना रहा था, येसु के प्रेमसिक्त दुखभोग तथा मृत्यु का संवाद सुनाने संत फ्रांसिस गोआ से दूर जापान जा रहे थे। बन्दरगाह पर मित्रों और समाज-बंधुओं की भीड़ लगी थी। गोआ के प्रत्येक हृदय के नायक संत फ्रांसिस अपने प्रियजनों से विदा ले रहे थे। उनकी आंखों में आंसू और मुखमंडल पर विषाद के चिह्न देख संत फ्रांसिस का हृदय भी ठंढी आहें भरने लगा। किन्तु जाना तो हर हालत में था, संदेशवाहक का काम ही है पर्यटन। वे अकेले नहीं जा रहे थे, उनके संग थे कुछ लोग, कुछ पुस्तकें और मिस्सा के पूज्य बलिदान की सामग्री। उनका संकेतमात्र पाकर संत पौल का प्रत्येक व्यक्ति उनके साथ चल पड़ता। संत भी उनको चलने से नहीं रोकते, यदि वे अपनी यात्रा के भविष्य से अवगत रहते उन्होंने अपने मित्रों को सान्त्वना दी, यदि सूर्योदय के देश जापान का वातावरण अनुकूल रहा तो आप लोगों को अवश्य और सहर्ष बुलाऊंगा। इसके बाद जहाज लहरों से खेलता क्षितिज के दामन में छिप गया।

एक सप्ताह के बाद पुनरुत्थान के पर्व दिन वे कोचिन पहुंचे। फ्रांसिस समाजियों के यहां उनका समुचित स्वागत हुआ। कप्तान और प्रमुख नागरिकों ने कास्त्रो को स्कूल संचालन के लिए वहीं छोड़ देने का उनसे अनुरोध किया। उन्हें निराश न करने के लिए संत फ्रांसिस ने उनसे कुछ और धैर्य धरने को कहा। यूरोप से ख्रीस्त सेवक आ रहे हैं, कोचिन के लिए उनमें से कोई न कोई अवश्य भेजा जाएगा।

चार दिनों के बाद संत की यात्रा फिर शुरू हुई। जहाज मालाबार तट से होता हुआ, कन्याकुमारी की बगल काटता, उत्तर-पूरब की ओर मुड़ा। शान्त समुद्र पर पुर्तगाली जहाज दक्ष नाविकों के कुशल संचालन में द्रुत वेग से जा रहा था। संत फ्रांसिस को इसी बंग खाड़ी की विगत यात्रा भूली नहीं थी। जहाज

का लहरों से तुमुल युद्ध और यात्रियों के भयातुर मुखमंडल पर अंकित निराशा की रेखाएं अब भी उनके स्मरणपट पर ताजी थी। लेकिन ऐसे शान्त वातावरण में आंजीरो ने अपने साथियों को आध्यात्मिक साधना देने की सोची। उसने वर्ष के आरंभ में अपने को तोरेस के निर्देशन में इस कसौटी पर कसा था। जिस उत्साह और प्रेम का संचार उसके हृदय में हुआ था, उससे वह अपने साथियों को भी अनुप्राणित करना चाहता था। तीन जापानियों की एकनिष्ठा और लगन देखकर संत फ्रांसिस दंग रह गए। ज्यों ज्यों वे प्रकाशपुंज के निकट आ रहे थे, आशारश्मि से उनका हृदय ज्योतिर्मय होता जा रहा था।

समुद्र के शान्त, नीरव गोद में सैंतीस रात बिताने के बाद जहाज मलक्का पहुंचा। इस बार न सुमात्रा के जलदस्युओं का आतंक रहा और न संकीर्ण मुहाने में जहाज के टुकड़े-टुकड़े होने का उतना डर ही। स्वागत में मलक्का तट नर-नारियों से उमड़ पड़ा था। सारा मलक्का पलक-पांवड़े बिछाए था। केवल एक व्यक्ति नहीं थे, मलक्का के पुरोहित श्रद्धेय मार्टिनेज़, वे अपने जीवन के अंतिम क्षण गिन रहे थे। अपने जीवन-ग्रंथ के उड़ते पृष्ठों को देख-देख उनका हृदय कांप रहा था मलावका में उन्होंने तीस वर्ष बिताए थे। इन तीस वर्षों में उन्होंने पड़ोसी तथा ईश्वर की सेवा में जो कुछ किया था उसका लेखा देने जीवनदाता के पास जा रहे थे। श्रद्धेय स्वामी मार्टिनेज़ आशा और निराशा के बीच झूल रहे थे कि सन्त फ्रांसिस उनकी मृत्यु-शैया के निकट पहुंचे। पुराने मित्रों का यह सुखद, अचानक मिलन था। सन्त की प्रार्थना और शब्दों द्वारा मार्टिनेज़ के अन्तर में मची आंधी शान्त हो गई और उन्होंने पापस्वीकार कर अपने प्रिय मित्र की गोद में ही अन्तिम सांस त्यागा।

उदार पेद्रो द गामा

मलक्का के कप्तान दौम पेद्रो द गामा, चिरविख्यात वास्को द गामा के पुत्र ने संत फ्रांसिस के स्वागत तथा सहायता में कुछ भी उठा नहीं रक्खा। वे जापानी मंडल के प्रस्थान की तैयारी में एंड़ी चोटी का पसीना एक कर रहे थे। इस विशाल हृदय, पुर्त्तगाली उदारता से प्रसन्न होकर सन्त ने पुर्त्तगाल के राजा से वास्को द गामा के इस सुपुत्र की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। येसुसमाजी पेरेज की

सफलता पर मलक्का को नाज था। उनके परिश्रम का फल सर्वत्र दिखाई दे रहा था। ओलिविएरा का स्कूल भी सुचारु रूप से चल रहा था। संत ने योहन ब्राजो नामक एक उम्मीदवार को समाज में भर्त्ती भी किया और उसके नवसिखा-वस्था के लिए कुछ सलाह लिखते गए। जून सोलह को कास्त्रो ने अपना सर्व-प्रथम पूज्य बलिदान चढ़ाया। उसकी योग्यता पर संत को अटल विश्वास था, वे उसे मलुक्का में स्कूल खोलने के लिए भेज रहे थे और बेइरा की मृत्यु की अफवाह सच निकलने पर वे मलुक्का के अध्यक्ष का भार उसी के सुपुर्द कर रहे थे। मलक्का से लिखे सभी पत्रों में वे अपने बंधुओं से अपने अधिकाधिक संदेश लिखते रहने का अनुरोध करते हैं और कहीं वे अमूल्य पत्र खो न जाएं, संत फ्रांसिस सुरक्षित रूप से उनके भेजने का तरीका भी बताते हैं।

कप्तान पेद्रो की कार्यशील उदारता से जापानी राजा के मनभावन उपहार एकत्र किए जा रहे थे। यात्रा के खर्च के लिए उन्होंने लगभग पांच टन गोल-मिर्च दिए। उनकी मुक्तहस्त दानशीलता की प्रशंसा करते संत फ्रांसिस ने पुर्त्त-गाली राजा को लिखा, "यदि हम सब उनके सहोदर भाई भी होते, तो वे हमारी सहायता इससे बढ़कर नहीं कर सकते।" राजा से उन्होंने पेद्रो को पुरष्कृत करने की याचना की। कप्तान पेद्रो संत फ्रांसिस के जापान जाने की व्यग्रता से परिचित थे। किन्तु ऐसी यात्रा का बीड़ा उठाने के लिए कोई भी पुर्त्तगाली जहाज तैयार नहीं था। पुर्त्तगाली व्यापारियों को चीन से अधिक लाभ होता था। चीन द्वारा व्यापार पर रोक लगा देने पर भी वे अवैध रूप से चीन जाते और वहां से होकर ही जापान की ओर बढ़ते थे। लेकिन संत फ्रांसिस जैसे "अधीर संत" के लिए चीन के निकटवर्ती किसी द्वीप पर अंटका रहना असह्य था। अन्ततः कप्तान के परिश्रम से आवान नामक एक चीनी व्यापारी, संत को सीधे जापान पहुंचा देने को राजी हो गया।

डाकू का साथ

उसका जहाज काफी बड़ा था और वह उन खतरनाक समुद्रों से होकर कई बार जा चुका था। लेकिन पुर्त्तगाली उसे डाकू कहते थे और उसे सदा शंका की दृष्टि से देखते थे। मलक्का में उसकी स्त्री रहती थी और उसकी संपत्ति भी

थीं। मलक्का में डाकू का जो कुछ था, सब जमानत में कप्तान द्वारा रख लिया गया कि कम से कम इनके भय से वह अपने वचन से न डिगे। कप्तान ने दोमिंगो दायस नामक एक पुर्त्तगाली को भी संत के साथ लगा दिया कि वह दुभाषिए का काम भी करता रहे और यदि किसी प्रकार की गड़बड़ी उठे तो मलक्का में सूचना दे।

प्रस्थान के पूर्व शैतान हर प्रकार से संत फ्रांसिस को अपने निश्चय से हटाने की चेष्टा करता रहा। संत ने पुर्त्तगाल ही में जापान के विषय तरह-तरह की बातें सुनी थीं जिससे किसी भी वीरात्मा के रोंगटे खड़े हो जाते। शैतान ने संत के ऊपर भी अपना पासा फेंका। लेकिन आत्माओं के इस सिद्ध जौहरी को उस दुष्ट के षडयंत्र का पता शीघ्र ही लग गया। उन्हें जैसे ही डर का थोड़ा सा आभास होता, संत इनीगो के उन वचनों का स्मरण करते, "जो येसुसमाज का सदस्य बनने की इच्छा करते हैं, उन्हें सब प्रकार से स्वयं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए और अपने हृदय से सब प्रकार का भय दूर करना चाहिए,जिससे विश्वास और प्रेमजनित भरोसा की प्रगति में किसी प्रकार की कमी आ सकती है।"

डाकू का जहाज २४ वीं जून के दोपहर को मलक्का से खुला। नाविक की निपुणता से सिंगापुर का मुहाना निरापद पार हो गया। हवा भी अनुकूल थी। ज्यों-ज्यों जहाज विस्तृत चीन सागर की ओर बढ़ता गया, नाविक बंदरगाहों पर व्यर्थ समय नष्ट करने का प्रयत्न करने लगे। संत को उनकी चाल समझते देर न लगी। इस तरह तो उस वर्ष जापान पहुंच पाना असंभव हो जाएगा। इससे उन्हें बहुत दुःख हुआ, लेकिन कर ही क्या सकते थे। सब कुछ तो डाकू के हाथ में था। संत के दुःख का एक और कारण था। ख्रीस्त की प्रेमशिक्षा से अनभिज्ञ चीनी नाविकों ने जहाज पर एक मूर्ति प्रतिष्ठित कर रक्खी थी और वे लगातार उसकी पूजा करते थे। उस मिट्टी के पुतले से वे अपनी यात्रा के विषय में पूछते और उसका उत्तर जानने के लिए चिट्ठे डालते। निरापद तथा सुगम यात्रा का उत्तर पाने पर ही जहाज खोलते।

शैतान के हथकंडे

उनकी मूर्त्तिपूजा देख संत का हृदय विह्वल हो उठता। लेकिन उस अंधविश्वास के गर्त्त में से उनका उद्धार करना असंभव नहीं,तो अत्यन्त कठिन अवश्य

था। इन सबके होते हुए भी वह जहाज जापान की ओर वढ़ा जा रहा था। इससे संत फ्रांसिस को कुछ आश्वासन अवश्य मिल रहा था। तभी कोचिन चीन के तट से जाते समय एक दुर्घटना हो गई। जुलाई की २१वीं तारीख को चीनी मानुएल आंधी की चपेट में आ जहाज के हौज में जा गिरा। उसके बचने की कोई आशा न रही। किसी तरह वह निकाला गया। अभी आंधी चल ही रही थी कि कप्तान की लड़की की वारी आई। वह समुद्र में गिर पड़ी, पिता के देखते देखते अथाह सागर ने उसे निगल लिया। कोई उसका उद्धार न कर सका। वियोग-विह्वल पिता के विलाप से सारा वायुमंडल गूंज उठा। उसके साथियों ने चिट्ठें डाले, अपने देवता से इस दुर्घटना का कारण पूछा। उत्तर प्रत्याशित था: देवता वलि खोज रहा था, इसीलिए मानुएल पहले हौज में गिरा था। वे उसको देवता की वलिवेदी से हटा लाए थे, इसलिए कप्तान की लड़की को उसकी जगह होम होना पड़ा था। संत और उनके साथियों के प्राण कच्चे धागे से झूल रहे थे। शैतान पग-पग पर उनकी यात्रा को विफल वनाने की कोशिश करता जा रहा था।

आंधी वन्द होने पर ही जहाज फिर खुल सका। वह कुछ ही दिनों में कान्तन बंदरगाह के सामनेवाले द्वीप पर जा लगा। कप्तान और नाविकों के रुख से संत फ्रांसिस को उनके रुख का पता लग गया। वे शरद उसी द्वीप पर विताना चाहते थे। संत ने इसका जवरदस्त विरोध किया और अनुनय-विनय से हारने पर धमकी भी दी। इस वार कप्तान उनकी वात मान गया और जहाज फिर खुला। वे चांगचाउ बंदरगाह के नजदीक आए, हवा का रुख वदलने पर था। यह देख नाविक वहां रुकने की वात सोच ही रहे थे कि उन्हें खवर मिली कि चांगचाउ के वंदरगाह में जलदस्युओं के जहाज गश्त लगा रहे हैं। अब डाकू को अनिच्छापूर्वक अपना जहाज जापान की ओर वढ़ाना पड़ा। वह पीछे भी नहीं मुड़ सकता था, हवा प्रतिकूल थी। अन्त में उद्ग्रहण पर्व के दिन संत फ्रांसिस और उनके साथियों का दल कागोशिमा के वंदरगाह में उतरे। कागोशिमा पौल की नगरी थी। इसी नगर से ख्रीस्त का दिव्य संदेश जापान के वायुमंडल में पहली वार प्रसारित होनेवाला था।

जापान की झलक

संत फ्रांसिस के लिए भारत सचमुच एक नवीन देश था, लेकिन जापान की नवीनता विलकुल अनूठी थी, गेंहुए भारतीय चेहरों के बदले अब उन्हें पीतवर्ण जापानी मिले, गोलाकार आकृति, रक्तिम ओष्ठ और मोटी-चिपटी नाकें। तिन्नेवेली के वंजर भूभाग के बदले सुन्दर प्राकृतिक सुषमा, मालाबार के नारियल निकुंजों के बदले जापानी चेरी, और फूस की छप्परों और घास की टट्टी के वदले कागज से ढंकी दीवारें और फुलवारियों से घिरे साफ-सुथरे मकान। आरम्भ में ही संत का हृदय जापान पर मुग्ध हो गया। कुछ तो इसलिए कि पहले से उन्हें जापानी संस्कृति का ज्ञान था, और कुछ जापानियों के विश्वविख्यात अतिथि सत्कार के कारण। इस नए वातावरण से प्रभावित होकर संत फ्रांसिस ने अपने बंधुओं को पास लिखा : "अब तक जिन-जिन जातियों का पता लगा है, उनमें ये श्रेष्ठ हैं। इनका आपस का व्यवहार सराहनीय है। ये आत्मसम्मान का मूल्य भली भाँति समझते हैं और इसके लिए सर्वस्व त्यागते भी नहीं झिझकते। ये बहुत अमीर नहीं हैं लेकिन अमीर या गरीब कोई भी निर्धनता को तुच्छ नहीं समझता। ये एक दूसरे का आदर करते हैं। पुरुष अस्त्र-शस्त्र को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। अपमान इन्हें असह्य है, भोजन में ये संयमी हैं, लेकिन चावल से बनी शराब ये मजे में पीते हैं। इनमें अधिकांश पढ़ना-लिखना जानते हैं। ये केवल एक पत्नी रखते हैं और चोरी से घृणा करते हैं। मेरे विचार में जनसाधारण अपने आध्यात्मिक पिता से कम ही कुकर्म करते हैं, उन्हें ये बौंज कहते हैं। ये बौंज पुरुषगामी होते और इसे खुलेआम स्वीकार भी करते हैं। यह कुकर्म स्त्री-पुरुष सबों को विदित है; लेकिन जनता इस पर ध्यान नहीं देती। किन्तु जब लोग हमें इसकी भर्त्सना करते हुए सुनते हैं तो फूले नहीं समाते।"

पौल के यहां

बारह सप्ताह के अन्दर संत फ्रांसिस को जापानियों का इतना ज्ञान हो गया था। प्रथम दो मास तो वे पौल के यहां रहे। दिन भर दर्शकों की भीड़ लगी रहती। ये जापानी गौरवर्ण आगंतुकों को देखते नहीं ऊबते थे। और वह पौल

कितना भाग्यशाली था जो दुनिया का भ्रमण करके लौटा था। आरम्भ से ही पौल अपने कुटुम्ब को ख्रीस्त की प्रेमशिक्षा के विषय में बताने लगा। उसके मत-परिवर्तन से कोई असंतुष्ट नहीं था। वह सारे दिन उन्हें अपना नया दिव्य संदेश सुनाता रहता, जिसे फ्रांसिस और उनके दो यूरोपीय साथी इतनी दूर से सुनाने आए थे। पौल को ख्रीस्तीय धर्म का अच्छा ज्ञान हो गया था। अपनी शिक्षा तथा उदाहरण से उसने अपनी बूढ़ी माता, अपनी स्त्री, बेटी तथा अन्य संबंधियों में से बहुतों को बपतिस्मा दिलाया।

कागोशिमा जापान द्वीप-पुंज के दक्षिणी छोर पर सातसुमा प्रान्त का मुख्य नगर था। नगर के राज्यपाल ने पश्चिमी बौंजों का शानदार स्वागत किया। सातसुमा के राजा शिमाजु ताकाहिसा को जब पौल के लौटने की खबर मिली, तो उसे अपने कोकुबु के दुर्ग में बुला भेजा। कोकुबु कागोशिमा से लगभग पन्द्रह मील की दूरी पर था। राजा ने बड़े आदर से उसकी आवभगत की और पुर्त्तगालियों के विषय में हजारों प्रश्न किए। पौल अपने साथ माता मरियम और बालक येसु की एक सुन्दर प्रतिमा लेते आया था। राजा ने उसे देखते ही उठकर जापानी प्रथा के अनुसार उसकी पूजा की और अपने दरबारियों को भी ऐसा करने का आदेश दिया। जब राजा की माता को वह चित्र दिखलाया गया तो वह आनन्द-विभोर हो उठी। कुछ दिनों के बाद उसने अपने एक रईस को उस चित्र की प्रति बना लाने के लिए पौल के यहां भेजा। पर उचित सामग्री के अभाव से प्रतिकृति वैसी नहीं बन सकी।

धर्मप्रचार की अनुमति

२९वीं सितम्बर, सन्त मिकाएल के पर्व दिन संत फ्रांसिस शिमाजु दाइमियो से मिलने गए। पौल ने अपने दर्शन के समय संत की बड़ी प्रशंसा की थी और उनके इतनी दूर आने का तात्पर्य समझाया था, ख्रीस्त की प्रेमशिक्षा का प्रचार करना। शिमाजु स्वयं बौद्धमत की जैन शाखा का अनुयायी था। संत की अभिलाषा जान उसने ख्रीस्त मत के प्रसार की पूरी स्वतंत्रता दे दी। उसने उन्हें सावधान करके अपने धर्मग्रंथ को बड़े यत्न से रखने को कहा, क्योंकि यदि उनकी

शिक्षा सच निकली तो शैतान उन पुस्तकों को नष्ट करने के लिए हर तरह से कोशिश करेगा।

सातसुमा में धर्मप्रचार की अनुमति पाकर फ्रांसिस की अन्तर्ज्वाला शान्त न हुई। उनकी धारणा थी कि असली जापान वहां से अभी दूर है, असली जापान का राजा दूसरे राजाओं से कहीं अधिक शक्तिशाली है, सब दूसरे उसी के अधीनस्थ जागीरदार के समान हैं। अतएव उन्होंने कोकुबु के शासक को कभी राजा की संज्ञा नहीं दी। उनके सुनने में आया था कि मिआको ही जापान का सबसे मुख्य नगर है, कागोशिमा से करीब तीन सौ कोस पर बसा हुआ। वहां नब्बे हजार घर हैं, एक विश्वविद्यालय और दो सौ बौद्ध मठ, स्त्री-पुरुष सबको अपनी गोद में समेटे। इसी जापान के राजा से संत फ्रांसिस मिलना चाहते थे। वे इन सबसे व्यक्तिगत रूप से परिचित होना चाहते थे और शिमाजु इस यात्रा का प्रबन्ध करने का विश्वास दिला रहा था। उस समय उत्तर की ओर जाना असंभव था, ६ महीने के बाद हवा अनुकूल होगी, तब कहीं जहाज उधर जा सकेंगे। तब तक फ्रांसिस और उनके साथी जापानी भाषा और संस्कृति का अध्ययन करने लगे। जापान भारत से बिलकुल भिन्न था और उनके अनुभव से जापानी भारतीयों से कहीं रूपवान थे। कागोशिमा कोई पुर्त्तगाली बस्ती नहीं था और पौल तथा उसके दो जापानी साथियों को छोड़ कोई दूसरा जापानी वहां पुर्त्तगाली भाषा नहीं समझता था। पुर्त्तगालियों से दूर रहने में संत को लाभ ही दीखता था, क्योंकि वहां न पुर्त्तगालियों का बुरा उदाहरण था, न उनकी बीवियों को धर्मशिक्षा देने का सवाल। भाषा तथा संस्कृति के अध्ययन के लिए इससे बढ़कर भला कौन अवसर मिल सकता था।

बौद्ध भिक्षुओं से परिचय

पौल के जरिए संत फ्रांसिस का परिचय बौद्ध भिक्षुकों से हुआ। नगर के आसपास बहुत से मठ थे। गौतम बुद्ध द्वारा बोया बीज जापान की भूमि पर ही सबसे अधिक फूल फल रहा था। इसकी चार मुख्य शाखाएं थीं, शिगोन, जिसका आविर्भाव नवीं सदी में हुआ था; शिन, जो अपनी नम्रता के कारण सबसे अधिक लोकप्रिय था, और जिसके भिक्षुकों को वैवाहिक जीवन बिताने

की अनुमति थी; ज़ेन, जिसका आगमन बारहवीं सदी में चीन से हुआ था और जिसके सिद्धांतों में न ईश्वर, न आत्मा और न मुक्ति के लिए कोई स्थान था; और सोते, जो जैन की ही एक उपशाखा थी। संत फ्रांसिस उन बौद्धों के मठों में जाते और अपने दुभाषिए पौल के द्वारा उन भिक्षुकों से वाद-विवाद करते थे। उन भिक्षुकों में भी अन्य बौद्ध भिक्षुओं की भांति पुरुषगमन जैसे प्रकृति-विरुद्ध पाप का व्यापक प्रचार था। संत से यह नहीं देखा गया। उन्होंने उनकी चरित्र-हीनता को बड़े जोरदार और कठोर शब्दों में फटकारा, लेकिन उसका असर उन पर कुछ भी नहीं पड़ा। वे पापपंक में पड़े भिक्षुक निर्लज्ज की तरह दांत निपोड़ कर रह जाते। यह ईश्वर की कैसी बड़ी कृपा है कि उन्होंने अपनी सृष्टि चलाने-बढ़ाने के लिए संसार को नर-नारी से सम्पन्न किया है। उनके आज्ञानुसार तथा नवागत शिशु का कल्याण ध्यान में रखकर, मानव-सृष्टि का महान कार्य विवाह के पुनीत बंधन में ही यथाविधि सम्पन्न किया जा सकता है।

लेकिन यह कहना कि सभी बौद्ध भिक्षुक पाप के बंधन में जकड़े हुए थे न्यायसंगत नहीं होगा। उनमें भी कुछ चरित्रवान व्यक्ति थे, जैसे बगुलों में राजहंस। ऐसे ही एक हंस का वर्णन संत फ्रांसिस ने अपने एक पत्र में किया है। इनका नाम था निनजितसु, जो अपने सच्चरित्र, विद्वता, अनुभव तथा प्रौढ़ अवस्था के कारण सबों के आदर के भाजन थे। ये जैन शाखावलम्बी थे। आत्मा भी अमर हो सकती है, यह समझना इनकी बुद्धि के परे था। सन्त फ्रांसिस इस बूढ़े, अनुभवशील भिक्षुक से बहुत बार मिले, कुछ दिनों बाद दोनों में गाढ़ी मैत्री हो गई। दोनों धार्मिक विषयों पर घंटों वाद-विवाद करते। फ्रांसिस अपने इस मित्र को भ्रान्ति के अंधकार से निकालने की सतत् चेष्टा करते। निनजितसु को ख्रीस्त मत के सभी सिद्धांत मान्य थे, लेकिन आत्मा की अमरता का जब प्रश्न उठता, तो मानो उसकी बुद्धि कुंठित हो जाती। एक बार संत फ्रांसिस ने अपने वयोवृद्ध मित्र से पूछा, "मनुष्य के जीवन का सबसे अच्छा समय कौन है?" निनजितसु ने बेधड़क उत्तर दिया, "युवावस्था, क्योंकि उस समय मनुष्य बलिष्ठ रहता है और वह अपनी इच्छा पूरी कर सकता है।" संत ने फिर पूछा, "एक नाविक के लिए कौन-सा समय सबसे सुखकर होता है, बन्दरगाह की ओर जाना या, उससे दूर?" निनजितसु ने संत फ्रांसिस

का उद्देश्य समझते हुए कहा, "नाविक बन्दरगाह की ओर अपने को आते देखकर हर्ष से खिल उठता है, लेकिन मुझे तो मालूम ही नहीं होता कि मेरी नाव किस ओर सरक रही है, या किस प्रकार से अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता हूं।"

निनजितसु एक बड़े मठ के अध्यक्ष थे। उनके अधीनस्थ भिक्षुक वर्ष में सौ वार दो-दो घंटे ध्यान चिन्तन में लगाते। उनके इस चिन्तन का विषय रहता, शून्य। एक वार जब निनजितसु के मठ के बौद्ध भिक्षुक इसी प्रकार के चिन्तन में व्यस्त थे, संत फ्रांसिस वहां पहुंचे। भिक्षुकों को आंखें बन्द किए, ऐसे ध्यान में देख कर उन्होंने अपने मित्र से पूछा, "भिक्षुक इतनी तन्मयता से क्या कर रहे हैं?" अनुभवी वयोवृद्ध ने उत्तर दिया, "कुछ तो हिसाव लगा रहे हैं कि यजमानों से उन्हें पिछले महीने कितनी आमदनी हुई, कुछ भोजन और वस्त्र की समस्या हल करने में लगे हैं, और कुछ मनोरंजन के नए साधनों की उधेड़वुन में लीन हैं।"

निनजितसु के एक शिष्य नानजिरी नामक मठ के अध्यक्ष थे। फ्रांसिस की इनसे भी मित्रता हो गई थी। लेकिन इनको भी अज्ञान से निकालने में सन्त सफल नहीं हुए। इस विफलता का शायद मुख्य कारण था संत फ्रांसिस का जापानी भाषा का अज्ञान। जापानी भाषा के अपने ज्ञान-भंडार के विषय में सन्त ने अपने पत्र में लिखा है, "अभी हम लोग उन लोगों के वीच मूत्तिवत् खड़े रहते हैं। वे हमारी चर्चा करते हैं और हम उनकी बातें विलकुल नहीं समझते।" संत फ्रांसिस वादविवाद अपने दुभाषिए पौल के जरिए करते थे।

पौल को ख्रीस्तीय धर्म का पर्याप्त ज्ञान था। लेकिन वौद्ध मत के सिद्धांतों से पूर्ण परिचित न होने के कारण वह उसकी शब्दावलि से अनभिज्ञ था। फलस्वरूप वह न स्वयं बौद्ध विचारधारा को समझ पाता, न वौद्ध भिक्षुकों से ख्रीस्त सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या ही कर पाता था। फिर जनता और विशेषतः निपुण बौद्ध मठाध्यक्ष संत फ्रांसिस के निर्दोष, निर्मल जीवन को देख उससे प्रभावित हुए विना नहीं रहते। जहां उनकी भाषा विफल हो जाती, वहां उनके सच्चरित्र की आभा लोगों को हृदय आलोकित करती रहती। संत फ्रांसिस की मृत्यु के वाद निनजितसु और उसके मठाध्यक्ष शिष्य ने गुप्त रीति से वपतिस्मा

पाने की अभिलाषा प्रकट की। दोनों मठाध्यक्ष थे, बौद्ध मत के आचार्य। एकाएक ख्रीस्त के अनुयायी बन जाने से कागोशिमा के मठों में खलबली मच जाती और उन्हें अध्यक्ष के पद से हाथ धोना पड़ता। अतएव वे धीरे-धीरे बौद्ध पद्धति द्वारा ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा प्रवाहित कर, अपने को ख्रीस्तीय घोषित करना चाहते थे। लेकिन यह मार्ग साधारणतः ख्रीस्तीयों के लिए अवैध है, छिप कर कोई ख्रीस्तानुयायी नहीं बना रह सकता। दुर्भाग्यवश मरने तक संत के युगुल मित्र बपतिस्मा नहीं पा सके।

गोआ को पत्र

नवम्बर के शुरू में डाकू का जहाज कागोशिमा से मलक्का जाने लगा तो वह संत के पत्र भी लेता चला। लेकिन डाकू उस पर नहीं जा रहा था। उसकी हड्डियां जापान में ही विश्राम कर रही थीं। संत ने गोआ से गास्पार बेरजे, बालथाजार गागो, और कारवाल्यो को जापान बुलाया। उन्होंने उन्हें एक अमूल्य परामर्श भी दिया, गर्म वस्त्र लेते आने की, क्योंकि वे जापान के शीत का अनुभव कर चुके थे। उन्हें मालूम हो गया था कि सूती परिधान से जापान का जाड़ा नहीं काटा जा सकता। अपने पत्र में उन्होंने जापानियों के भोजन का भी कुछ वर्णन किया, "ये जापानी चिड़िया मार कर नहीं खाते, भात तथा गेहूं पर ही जीवन निर्वाह करते हैं। यहां सब्जियों की कमी नहीं, फल भी कुछ मिल ही जाते हैं, लेकिन ये लोग उनका कम उपयोग करते हैं। जापानियों के निरामिष भोजन का पता संत को भारत में ही लग चुका था। जब से जापान के लिए प्रस्थान किया उन्होंने भी मांस खाना बिलकुल छोड़ दिया था।

भारत से इतनी दूर, जापान की नई समस्याओं से घिरे रहने पर भी संत फ्रांसिस का हृदय गोमेज के लिए बेचैन ही था। संत पौल के उस ज्ञानी, किन्तु अभिमानी अधिष्ठाता को वे बराबर सलाह देते रहे, "प्रभु के प्रेम में आपसे मैं आग्रह करता हूं कि आप अपने समाज के भाइयों से ऐसा व्यवहार करें कि वे सब आपको हृदय से प्यार कर सकें।" गोमेज की आध्यात्मिक उन्नति की चिन्ता संत फ्रांसिस को सदा लगी रहती थी। यदि गोमेज उनकी बातों पर अमल करने लगें तो फ्रांसिस उन्हें जापान बुला भेजने को तैयार थे। गोमेज को विश्वविद्यालयों

से बड़ा प्रेम था, संत फ्रांसिस उनके इस झुकाव से परिचित थे। फलतः उन्हें मिआको तथा कुआन्तो के विश्वविद्यालयों के दर्शन करने का अवसर देना चाहते थे। लेकिन बेचारा गोमेज......

बौद्ध भिक्षुकों के संपर्क से संत फ्रांसिस को बौद्ध मत का अधिकाधिक ज्ञान होता गया। ख्रीस्त मत और बौद्ध मत के बीच का अन्तर उन्हें अलंघ्य प्रतीत हो रहा था। बौद्ध भिक्षुकों से उनकी मैत्री अवश्य थी, लेकिन उनकी शत्रुता का भी उन्हें कई बार अनुभव हो चुका था। मित्रता की राख में छिपी उनकी ईर्ष्याग्नि सुलग रही थी, शोले अवश्यंभावी थे। लेकिन सतसुमा के राजा का अनुग्रह उन पर अब तक बना था। वे उनकी सहायता करना चाहते थे क्योंकि वे इतनी दूर से आए ख्रीस्त के इन प्रचारकों की वीरता के कायल थे। जब उन्होंने देखा कि ये प्रचारक पौल के घर में रहते हैं, तो अपना एक घर उन्हें दे दिया कि वे शान्त वातावरण में अपने पंडित पौल के साथ जापानी भाषा का यथोचित अध्ययन कर सकें।

जापानी भाषा का अध्ययन

संत फ्रांसिस ने अपना पहला जापानी जाड़ा यहीं बिताया। तीनों ने बड़े ध्यान और उत्साह से जापानी सीखना आरंभ किया था। लेकिन तीनों में जुआन फेरनान्देस सबसे आगे थे। फ्रांसिस के लिए तो वह भगीरथ प्रयास ही कहा जा सकता है। वे चालीस दिनों के अनवरत परिश्रम के बाद, बड़ी कठिनाई से अनूदित दस आज्ञाओं को कंठस्थ कर सके। जापान की भाषा के अध्ययन के साथ वे पुर्त्तगाली में भी एक शिक्षा-सार लिखते जा रहे थे जिसके अनुवाद का भार पौल के कंधों पर था। पौल अनुवाद करता था और संत फ्रांसिस किसी मठ की सीढ़ियों पर बैठकर उस अनूदित भाग को उच्च स्वर में पढ़ा करते थे। कुतूहलवश यात्रियों की भीड़ इकट्ठी हो जाती। इस प्रकार संत फ्रांसिस जापानी भाषा का भी अध्ययन करते, और साथ ही उपदेश भी देते। उनके ऐसे ही उपदेशों को सुनकर एक जापानी युवक ने बपतिस्मा ग्रहण किया और अन्ततः येसुसमाज में भर्त्ती होकर सन्त के कार्यों की गवाही यूरोप में दी। उस समय से लेकर संत के जापान में रहने के अंतिम दिन तक यह भक्त युवक

बर्नर्ड, फ्रांसिस के साथ रहा। कई महीनों तक तो वह सन्त की ही कोठरी में सोया। रात को नींद में सन्त फ्रांसिस येसु का पवित्र नाम जपते-जपते कराह उठते थे। वर्नर्ड की गवाही से हम जानते हैं कि जापान में सन्त ने बहुत से रोगियों को स्वस्थ किया था।

कागोशिमा में एक और जापानी युवक ने ख्रीस्त मत स्वीकार किया था। वह समुरे जाति का मिकाएल था। मिकाएल चिकू दुर्ग का भंडारी था। वह दुर्ग कागोशिमा से उत्तर पड़ता था। ख्रीस्त शिक्षा से प्रेरित होकर मिकाएल दुर्ग लौट कर अपने सहवासियों में उसका प्रचार करने लगा। दुर्ग स्वामी को उसके इस आचरण पर जरा भी आपत्ति नहीं हुई। उनकी आज्ञा से फ्रांसिस ने दुर्ग के पन्द्रह लोगों को बपतिस्मा दिया, जिनमें दुर्ग-स्वामी की धर्मपत्नी और सुपुत्री भी थीं। लेकिन दुर्ग स्वामी ने स्वयं ख्रीस्त मत स्वीकार नहीं किया। जब फ्रांसिस कागोशिमा छोड़ रहे थे, तब अपना कोड़ा मिकाएल को देते गए, जिसे वह ख्रीस्त भक्त एक अमूल्य धरोहर की भांति बचा कर रक्खा। सन्त फ्रांसिस की मृत्यु के बाद तक मिकाएल के नेतृत्व में प्रति सप्ताह दुर्ग के ख्रीस्तीय प्रार्थना के लिए जमा होते और उसकी अनुमति से प्रत्येक व्यक्ति अपने को तीन कोड़े लगाता। तीन ही कोड़े, क्योंकि मिकाएल को डर था कि यदि उसका अधिक प्रयोग हुआ तो वह अधिक दिन नहीं चलेगा।

यहां भी निराशा

बर्नर्ड और मिकाएल सचमुच प्रशंसा के पात्र हैं। खेद, कि अन्य जापानी अधिकाधिक मात्रा में उनके पदचिह्नों पर नहीं चले। दिन बीत कर मास हो गए, लेकिन कागोशिमा के ख्रीस्तीयों की संख्या में वृद्धि नहीं हुई। पौल के वर्णन से जान पड़ता है कि सन्त फ्रांसिस प्रारम्भिक सफलता देखकर सोचने लगे थे कि अब उनके वर्षों के स्वप्न साकार हो उठेंगे, लेकिन यथार्थता की चट्टान से टकरा कर वे टुकड़े-टुकड़े हो गए। भिक्षुकों की प्रचण्ड ईर्ष्या के ताप से ख्रीस्त-मत स्वीकार करनेवालों की धारा एकाएक सूख गई। सतसुमा के राजा की उदारता की कलई भी धीरे-धीरे खुलने लगी। इन आगन्तुक भिक्षुकों की शिक्षा से उसे उतना मतलब नहीं था, जितना पुर्त्तगालियों के जहाज से। उसने सोचा

था कि सन्त फ्रांसिस की मध्यस्थता के द्वारा पुर्त्तगालियों से उसकी मित्रता हो जाएगी। राजा का यह सच्चा रूप देखकर सन्त फ्रांसिस ने समस्त जापान के राजा से मिलने की लालसा पुनः प्रकट की । सतसुमा नरेश इसमें फिर टाल-मटोल करने लगे। शुरू में उन्होंने सन्त फ्रांसिस को इस काम में सब प्रकार की सहायता करने का वचन दिया था। तब वे कभी कहते, हवा अनुकूल नहीं है और कभी कि उत्तर में भीषण युद्ध चल रहा है, जिससे वहां तक पहुंचना कठिन है। वास्तव में राजा भी कुछ निराश हो रहे थे, क्योंकि संत फ्रांसिस न तो कोई जहाज लेकर आए थे और न निकट भविष्य में किसी पुर्त्तगाली जहाज के कागोशिमा पहुंचने की संभावना ही नजर आती थी। उधर बौद्ध भिक्षुकों का भी षड्यंत्र जारी था। कभी वे राजा को इन विदेशी भिक्षुकों को हटा देने की सलाह देते और कभी धमकी कि किसी न किसी दिन राजा पर कोई संकट अवश्य आवेगा। फ्रांसिस के सत्यप्रचार से उन बौद्धों के जीवन-निर्वाह के एकमात्र साधन पर धक्का लग रहा था।

सन्त फ्रांसिस के कागोशिमा आने के दिन से बौद्धों का प्रभुत्व क्षीण होने लगा था। तभी से ये बौद्ध इस नवागत प्रतिद्वंद्वी को दूर भगाने का अवसर खोज रहे थे। पहले तो राजा की छत्रच्छाया थी, फ्रांसिस और उनके साथियों के ऊपर। लेकिन जब बौंजों ने राजा की नीति में परिवर्त्तन देखा, तो उन्हें अपनी लक्ष्य-सिद्धि में नया उत्साह मिलने लगा। राजा के ऊपर उन्होंने पहले के समान दबाव डालना शुरू किया। वे उसे विदेशियों के विरुद्ध भड़काने लगे। उनकी सलाह का विष राजा की धमनियों में शनैः शनैः चढ़ने लगा। अब संत फ्रांसिस और उनके साथियों के लिए धर्मप्रचार करना कठिन हो गया और जापानियों के लिए ख्रीस्त मत स्वीकार करना संकटापन्न जान पड़ा, क्योंकि धर्मप्रचार का कार्य ही गैरकानूनी ठहरा दिया गया।

इतने महीनों के अथक परिश्रम से कुल सौ जापानियों ने ख्रीस्तमत स्वीकार किया था। इस पर संत को जो वेदना हुई, उसका हम अनुमान मात्र कर सकते हैं। अपने समाज बंधुओं से दूर, प्यारे परिया लोगों से अलग, शोकातुर तथा क्लान्त संत फ्रांसिस का मन तो तप ही रहा था, अब ज्वर से उनका शरीर भी

जलने लगा। जून के अन्त में ही उन्हें खबर मिली थी कि कागोशिमा से लगभग दो सौ मील उत्तर की ओर हिरादो बंदरगाह में कोई पुर्त्तगाली जहाज लगा है। यह सुनते ही संत फ्रांसिस की आंखें आशा से चमक उठीं, उस जहाज पर उनके लिए अवश्य ही भारत और यूरोप से पत्र आए होंगे। देर करने का समय नहीं था, कहीं जहाज लौट नहीं जाए, उनके पत्रों का पुलिन्दा लेकर। अतः बर्नर्ड को साथ ले वह स्थलमार्ग से जापान की गिरि-कंदराओं तथा जंगल-झाड़ियों को पार करते हिरादो की ओर बढ़े। उनके पैरों में हिरण की स्फूर्ति तो नहीं थी, लेकिन उनके हृदय में आशा-दीप अवश्य जल रहा था, जिसके तेज से उनका पथ आलोकित होता जा रहा था।

हिरादो पहुँच कर सन्त को बड़ी निराशा हुई। वे पत्रों की आशा लेकर चले थे, लेकिन वहां एक भी पत्र उनके नाम नहीं था। लेकिन पुर्त्तगालियों ने सप्रेम उनका स्वागत किया। इस स्वागत से उनकी आशा पुनः जगी और श्रद्धा के मधुर स्पन्दन से थिरक उठी। हिरादो में एक मास रहकर संत फ्रांसिस पुनः कागोशिमा चले, रहने के लिए नहीं लेकिन मलक्का से लाए उपहारों के साथ हिरादो लौटने के लिए। राजा से उन्होंने विदा मांगी, नगर के ख्रीस्तीयों को पौल के हाथ सौंपा, और वे मिआको पहुँचने की आशा से हिरादो चल पड़े।

नवां परिच्छेद

राजा के दरबार में

हिरादो तट से कुछ अलग, फ्रांसिस्को परेरा द मिरान्दा का जहाज फ्रांसिस की प्रतीक्षा में चक्कर लगा रहा था। पुर्त्तगालियों के नौ प्रभुत्व का प्रतीक, झंडियों से सजा यह जहाज एक छोटे नगर-सा सुशोभित हो रहा था। तोपें सजी थीं, संत के स्वागत में क्षितिज को प्रतिध्वनित कर देने के लिए व्यग्र, संकेत मात्र के लिए रुकीं। तब एक दिन किउशु तट के किनारे-किनारे एक छोटी नाव जल में तिरती आती दिखी। तोपों की सलामी से हिरादो का वायुमंडल गूंज उठा। संत हिरादो आ रहे थे, पुर्त्तगालियों ने उनके स्वागत में कुछ भी उठा नहीं रक्खा। वे हिरादो के शासक मतसुरा ताकानोबु को दिखा देना चाहते थे कि पुर्त्तगाली व्यापार ही करना नहीं जानते, वीरो और सन्तों का मन करना भी जानते हैं। उस स्वागत-समारोह का प्रभाव पुर्त्तगालियों की आशा के अनुकूल ही हुआ। हिरादो के शासक ने भी फ्रांसिस के स्वागत में भाग लिया। उत्सव के आवरण से ढंका उसका असली अभिप्राय सबों से छिपा रहा। उसे पुर्त्तगालियों से लाभ ही लाभ था, अतएव उनके स्वर के साथ तत्ताथेई करने में कौन-सी हानि थी? उसे न ख्रीस्तमत से कोई मतलब था, न पुर्त्तगालियों से कोई प्रेम। उसे उनके लाए सामानों की भूख थी। संत फ्रांसिस के स्वागत-समारोह में उसे सम्मिलित देख पुर्त्तगाली उसे पहचान न पाए।

किमुश के अतिथि

सन्त फ्रांसिस हिरादो में दो महीने रहे। इस अल्प अवधि में उनके और उनके साथियों के परिश्रम से सौ जापानियों ने ख्रीस्तमत स्वीकार किया। फ्रांसिस का कार्यक्रम यहां भी कागोशिमा की तरह रहा। धर्म-शिक्षा का वही ढंग, अपनी पुस्तिका में से पढ़-पढ़कर लोगों को सुनाना और जुआन फरनान्देस

से भी यही कराना। हिरादो के नव ख्रीस्तीयों में किमुरा नामक एक सज्जन थे। इन्होंने संत का अतिथि-सत्कार ही नहीं किया, उनको अपने यहां दो महीनों तक रक्खा भी। इन्हीं के वंशज लेवनार्द किमुरा ने गिरजा तथा सारे जापान का नाम ऊंचा कर दिया है अपने प्राण का बलि देकर। प्रथम किमुरा के इस सुयोग्य पौत्र ने येसुसमाज का धर्मबंधु बन कर अपनी शहादत द्वारा अनुपम वीरता तथा भक्ति का प्रमाण दिया।

संत फ्रांसिस हिरादो रहने नहीं आए थे; हिरादो तो एक मुकाम था, जापान के नरेश से मिलने जाने के मार्ग में। जापान के अन्य शासकों से ख्रीस्तमत के विस्तार की जो स्वतंत्रता मिल सकती थी, वह निश्चित और निरापद नहीं थी, इसका भान उन्हें कागोशिमा में ही मिल चुका था। यदि समस्त जापान का नरेश उन्हें यह स्वतंत्रता दे दे, तो भला कौन यह अधिकार उनसे छीनने का साहस करेगा। संत की यही धारणा थी। यदि वे उस राजदरबार तक पहुंच पाते तो राजा को मुग्ध करना कोई बड़ी बात नहीं होती। उपहारों पर वे लट्टू हो जाएंगे और मुंहमांगा इनाम देने को तैयार। अतः हिरादो के नव-ख्रीस्तीयों को तोरेज की देखरेख में छोड़ वे जुआन और विश्वस्त बर्नर्ड के साथ सम्राट् के दरबार की ओर रवाना हो गए।

पांच सौ मील की यात्रा फ्रांसिस जैसे विश्वयात्री के लिए कोई अनोखी बात नहीं थी, उस सोलहवीं सदी में भी। फिर भी संत की सभी यात्राओं में यह कठिन सिद्ध हुई। अब तक उन्हें लहरों से लड़ना पड़ा था, किन्तु सर्दी से यह उनकी पहली मठभेड़ थी। जापान की सर्दी विख्यात है और ऐसी सर्दी के साथ उन्हें लोगों के सर्द दिलों का भी मुकाबला करना पड़ा। जापान की तत्कालीन स्थिति डांवाडोल थी। डाकुओं के जत्थों से कहीं भी पाला पड़ सकता था और उनसे किसी भी यात्री के प्राण बचने की आशा नहीं रहती थी। यह केवल वीरान सड़कों की बात नहीं थी। नगर और सरायों में भी उन पर बच्चों और वयस्कों का आक्रमण हो सकता था। इतिहास के पन्नों पर जापान के अतिथि-सत्कार का वर्णन स्वर्णाक्षरों में लिखा गया है, वही हमारे यात्रियों के प्रति इतना निष्ठुर हो जाएगा, विश्वास नहीं होता। लेकिन सत्य बड़ा निर्मम होता है, वह अपवाद ही क्यों न हो।

अक्टूबर के अन्त में संत फ्रांसिस जहाज से उतर कर उत्तर-पूरब की ओर चले। आसपास के सभी समुद्रों में डाकुओं का उत्पात हो रहा था। किसी भी नाव को देख कर जहाज के सब यात्री जहाज की तल्ली में जा छिपते और यही मनाते कि उन उपद्रवियों की नजर उनके जहाज पर न पड़े, नहीं तो असबाव और जान से भी हाथ धो बैठना पड़ेगा। ऐसे आतंकजनक परिस्थिति में भी सन्त का यह सुनहला स्वप्न नहीं भंग हुआ : मिआको समस्त जापान की राजधानी, जहां के राजा के अधीन सारा जापान था, जिसके एक इशारे पर सबके सब शासक फ्रांसिस की सहायता करने दौड़ पड़ते। यदि वह नरेश ख्रीस्तीय वन जाए, तो सारा जापान ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा स्वीकार कर लेगा। प्राची का यह देश सच्चा ज्ञान-प्रकाश पा जाएगा। अपनी आत्मा की अमरता को पहचान सकेगा, मुक्ति के खुले द्वार से प्रविष्ट हो सकेगा। तब सतसुमा के राजा की एक न चल पाएगी, न उसके राज्य के बौद्ध भिक्षु कोई वाधा डाल सकेंगे। तब ख्रीस्त मत के विस्तार पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं रह सकेगा। इन विचारों से सन्त फ्रांसिस को पूरी यात्रा भर आंतरिक उत्साह मिलता रहा।

दुराचारी साधु

दो दिनों की आतंकमयी यात्रा के वाद वे हकाता पहुंचे। इस व्यापार-केन्द्र में एक विशाल बौद्धमठ था, जहां भिक्षुकों के साथ बहुत से लड़के भी रहा करते थे। ये उन दुराचारी भिक्षुकों के विलास के साधन थे। जव उन भिक्षुकों को पता चला कि एक गौरवर्ण भिक्षुक भारत से आए हैं, गौतमवुद्ध की जन्मभूमि से, तव उन्होंने उन्हें अपने मठ में बुलाकर उनका वड़ा सम्मान किया। मठाध्यक्ष के आज्ञानुसार उनके सामने फलों की थाली रक्खी गई। संत को उनके विलास-पूर्ण आचरण का पता पहले ही चल गया था। उस पापमय मठ का आतिथ्य उन्हें कैसे स्वीकार हो सकता था। उन दुराचारी साधुओं के साथ दयाभाव दिखाना उन्हें पाप में फंसे रहने और लोगों को ठगते जाने में प्रोत्साहन देना होगा। मठ में पैर रखते ही उन्होंने उन भिक्षुओं की कड़ी भर्त्सना शुरू की। कुछ ही समय के बाद मठाध्यक्ष और मठवासियों को विस्मित और आश्चर्य-

चकित छोड़, वे अपने पैरों की धूल झाड़ कर वहां से निकल आए। निराश्रय, अनजान प्रदेश की सर्दी उन्हें स्वीकार थी, लेकिन पाप के दुर्गन्धपूर्ण मठ का आतिथ्य नहीं।

हकाता की सड़कों पर हड़कंप ठंढ पड़ रही थी। संत का अंग अंग सर्दी से अकड़ रहा था, लेकिन उनकी आत्मा तरंगविहीन सागर के समान शान्त थी, इसका प्रतिविम्ब उनके चेहरे पर भी स्पष्ट दिखाई देता था। उनका प्रसन्न मुख देखकर उनके साथी अपने दुःख भूल जाते थे। कैसे व्यक्ति थे, ये जो इतनी यंत्रणाओं से गुजरते हुए भी ईश्वर में इस प्रकार तन्मय रहते कि प्रकृति के प्रकोप से भी उनकी समाधि भंग नहीं होती थी।

हिरादो से जो सामान फ्रांसिस और उनके साथी लेकर चले थे, वे सव दो थैलों में अंट गए थे। एक उत्तरीय,तीन-चार कमीज और एक फटी रजाई, तीन आदमियों के लिए ये ही सामान थे। जापान में तो सराय करीव हर गांव में और नगर में मिलती थी लेकिन उनमें जाड़े से बचने का वहुत कम प्रवंध रहता था। खाट तो देखने को भी नहीं मिलती थी और यदि चटाई मिल गई तो अहोभाग्य था। धनिकों की तो कुछ खातिर भी होती, लेकिन गरीव यात्रियों को शायद ही कोई पूछता। सूजे पैरों से लंगड़ाते, फटे कपड़े पहने वे किसी सराय में प्रवेश करते, तो मालिक उनकी गरीवी देख उन्हें जगह भी नहीं देना चाहता। उन सरायों में भोजन का अभाव रहता है, बर्नर्ड यह जानता था। इसलिए हिरादो से चलते समय वह झोली में लाई लेते आया था। यही खाकर वे किसी तरह पेट की क्षुधा शान्त कर लेते। सरायों में उनकी शीलता और शालीनता देखकर सव यात्री भौंचक रह जाते। यही वात उनके भोजन करते या वार्त्तालाप करते समय भी होती। वे सदा ईश्वर में तन्मय दीखते। सरायों के मालिक की कृपा रहती तो उन्हें आश्रय मिल जाता और शरीर की थकावट मिटाने के लिए एक चटाई, भोजन के लिए भात और सूखी मछली, भूनी या उवाली सब्जियों का थोड़ा शोरवा। शोरवा तो ऐसा रहता, कि जिन्हें उसकी आदत नहीं रहती, वे नाक वंद करके ही उसे पी सकते थे। संत के लिए भात और वह वदवूदार शोरवा ही पर्याप्त था। फ्रांसिस जानते थे कि वौद्ध अहिंसावादी होते हैं। लेकिन उन्होंने वार-वार देखा, यह ढकोसला मात्र है।

बौद्ध भिक्षुक छिप-छिपकर मछली खाया करते थे। कहीं-कहीं किसी मत के अनुसार मछली खाने पर मनाही नहीं थी और इसी मछली के बहाने कितने बौद्ध मांस भी निगल जाते थे। जापान पहुंचते ही संत फ्रांसिस ने मांस-मछली खाना छोड़ दिया था। फिर भी यदि किसी सराय में कोई रसोइया मांस मछली परोस देता, तो फ्रांसिस ईश्वर को धन्यवाद देते, जिन्होंने मनुष्य के लिए सब अच्छी चीजों की सृष्टि की है। मनुष्य इस संसार का मालिक है, क्योंकि ईश्वर ने से सब प्राणियों से श्रेष्ठ बनाया है। संसार की सभी चीजें उसकी सेवा के लिए बनी हैं और वह स्वयं ईश्वर की सेवा के लिए। जहां तक ये चीजें मनुष्य को उसके सृष्टिकर्त्ता से विमुख नहीं करतीं, उनका सेवन या उपयोग वैध है। स्वास्थ्य के लिए या अपनी रुचि के अनुसार मांस-मछली का सेवन करना किसी भी हालत में पापपूर्ण नहीं ठहराया जा सकता।

जापान की ठंढ में ठिठुरती संत फ्रांसिस की मंडली हकाता में ६ दिन रहकर स्थल मार्ग से मोजी बंदर की ओर बढ़ी, और मुहाना पार कर शिमोनोसेकी उतरी। वहां से यामागुची करीब तीस मील था। यामागुची एक बड़ा नगर था और वहां से मिआको जाने का, प्रबंध हो सकता था। इधर भी रास्ते में डाकुओं का भय लगा रहता था, जो हथियारों से लैस निहत्थे यात्रियों पर आक्रमण कर उनका सामान छीन और उन्हें अधमरा छोड़ भाग जाते। लेकिन संत फ्रांसिस के पास कोई मूल्यवान वस्तु नहीं थी। वे अभी केवल अन्वेषक बनकर मिआको जा रहे थे। वे मलक्का से लाए उपहार हिरादो में ही छोड़ आए थे, यहां तक कि मिस्सा चढ़ाने की सामग्री भी उनके पास नहीं थी। ईश्वर की कृपा से वे सब यामागुची में सुरक्षित पहुंच गए।

यामागुची

यामागुची एक समृद्धिशाली नगर था, विलासों और रंगरेलियों का नगर। सारे जापान में इससे वैभवशाली था तो केवल मिआको। यहां के दस हजार घर और सौ मंदिर तथा मठ देखकर राजा ऊची योशिताका की छाती हर्ष और अभिमान से फूल उठती थी। इस विलास और ऐश्वर्य की नगरी में पहुंच कर संत फ्रांसिस एक भठियारे के यहां उतरे। उसका नाम था उचीदा। उस भठियारे

के घर कुछ दिन टिक जाना संत ने अच्छा समझा। मिआको की ओर निहत्था वढ़ना मूर्खता की पराकाष्ठा ही होती। फलतः फ्रांसिस मिआको जाते हुए किसी प्रतिरक्षक यात्री दल की खोज में लगे रहे और फेरनान्देस के संग ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा लोगों को सुनाते रहे। वे किसी चौराहे पर खड़े हो अपनी पुस्तिका से पढ़ पढ़कर लोगों को उपदेश देते। कुछ ही समय में भीड़ जमा हो जाती। श्रोताओं में कुछ ध्यान से सुनते, कुछ सुनकर हंसते, ठहाका मारते और अधिकांश उन विदेशी यात्रियों की खिल्ली उड़ाते। किन्तु सन्त का उपदेश वन्द नहीं होता। श्रोताओं के अशिष्ट व्यवहार देख वे भी कठोर और जोरदार शब्दों में जापान के प्रचलित पापों की घोर निन्दा करते। जब फेरनान्दस जापानी भाषा में उपदेश करते, सन्त अपने श्रोताओं के लिए प्रार्थना करते कि वे दिव्य संदेश सुनकर अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करें और ख्रीस्त की प्रेम शिक्षा को स्वीकार कर बपतिस्मा ग्रहण करें। वे उपदेशक प्रति दिन एक जगह से दूसरी जगह जाते। कुछ ही दिनों में यामागुची की कोई भी सड़क नहीं, जहां उन्होंने ख्रीस्त का दिव्य संदेश नहीं सुनाया हो। सुननेवालों में कतिपय अच्छे स्वभाव के भी थे जो उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनते और उनके विषय में कुछ और जानने के लिए उन्हें अपने घर आमंत्रित करते। कुछ ऐंसे भी थे जो केवल मजाक के लिए उन्हें अपने यहां बुलाते।

ऐंसे ही एक वार एक धनी का संत फ्रांसिस को निमंत्रण मिला। उन्होंने फेरनान्देस को दूतों के पतन का विवरण पढ़ने को कहा और इसके बाद घमंड जैसे दुर्गुण पर उपदेश देने को कहा। उस उपदेश को सुनकर घर का मालिक इतना रंज हुआ कि क्रोध और अविश्वास को छिपाए विना अपने मेहमानों की ओर लपका, किन्तु फ्रांसिस उससे डरनेवाले नहीं थे। उन्होंने आंख में आंख मिलाकर उसको दीन और विनम्र वनने का आदेश दिया और पैर झाड़ कर बाहर चले गए। मुंह से एक आह निकल आई।

यामागुची में सर्वप्रथम ऊचीदा और उसकी धर्मपत्नी ने ख्रीस्त मत स्वीकार किया। तब एक दिन राजा योशिताका का अर्दली राज दरबार में हाजिर होने की आज्ञा सुना गया। अब तक फ्रांसिस को धर्मप्रचार की अनुमति नहीं मिली थी। निर्धारित दिन संत फ्रांसिस और जुआन फेरनान्देस राजदरबार में हाजिर

हुए। राजा के सामने आते ही उन्होंने जापानी प्रथा के अनुसार, घुटने के बल, दो वार भूमि को सिर से छूकर प्रणाम किया। राजदरवार में केवल तीन ही व्यक्ति थे, राजा योशिताका, उसका प्रमुख बोजु और वह अर्दली, जो राजा का फरमान लेकर संत फ्रांसिस के पास गया था। लेकिन सूने राजदरवार की दीर्घाओं तथा अगल-वगल की कोठरियों में लोग भरे थे। वार्त्तालाप सुनने को सव उत्सुक थे। वास्तव में यामागुची के राजा ही जापान के सबसे शक्तिशाली नरेश थे। लेकिन फ्रांसिस यह मानने को तैयार न थे। उनकी आंखें भिक्षुओं पर लगी थीं। राजा ने अपने मेहमानों का समुचित स्वागत करते हुए उनकी यात्रा के विषय में पूछा। भारत और यूरोप के विषय में उन्होंने अनेक प्रश्न किए। इस प्रारंभिक भूमिका के वाद धर्म की चर्चा छिड़ी।

राजा को विश्वास नहीं हो रहा था कि कोई इतनी कठिनाइयों का सामना कर, इतनी दूर केवल धर्म-शिक्षा का प्रचार करने के लिए आ सकता है। सन्त ने उसको यह विश्वास दिलाने के लिए फेरनान्देस की ओर देखा। फेरनान्दस ने संकेत पाकर अपनी पुस्तिका निकाली तथा अंधविश्वास की बुराइयों का उल्लेख किया और अन्त में जापान में प्रचलित पुंसंभोग की जघन्यता की भर्त्सना की। अपनी पुस्तक में सन्त फ्रांसिस ने लिखा था, जो आदमी इस पाप में गिरता है वह गंदे जानवरों से भी पतित होता है, क्योंकि बुद्धिहीन जानवर भी ऐसा नहीं करते। यह सुनकर राजा योशिताका के चेहरे का रंग उड़ गया, क्योंकि शाही परिवार भी इस घोर पाप से अछूता नहीं था। क्रोध और लज्जा के मारे राजा के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकल सका। अर्दली ने संकेत किया और उन प्रचारकों को राजदरवार से बाहर निकलना पड़ा। निस्संदेह संत फ्रांसिस के शब्द कठोर थे, लेकिन यह पाप भी तो ऐसा है जिसकी भर्त्सना कभी पर्याप्त नहीं हो सकती। संत उस व्यक्ति से क्रोध या घृणा नहीं करते थे, जो दुर्भाग्यवश ऐसे पाप से आबद्ध था, लेकिन वे उस पाप को वर्दाश्त नहीं कर सकते थे जिसके कारण सोदोम और गोमोरा को भस्मसात् होना पड़ा था। पापी के लिए संत फ्रांसिस के हृदय में दया और सहानुभूति थी, वे पापी को ऐसे भयंकर दलदल से निकाल उसे पवित्र गिरजा के मातृ अंक में सुरक्षित कर देना चाहते थे।

संत फ्रांसिस ने केवल यामागुची के राजा के प्रति ऐसी निर्भीकता नहीं दिखलाई। जिस किसी में यह दुर्गुण होता, वह राजा हो या रंक, उसे संत के कठोर वचन सुनने पड़ते। इस कारण अनेक वार उन्हें अपने श्रोताओं की गालियां और धमकियां सुननी पड़ीं, लेकिन संत का रुख ज्यों का त्यों वना रहा। जव कभी कोई अपने कुकर्मों के पक्ष में वड़े शव्दों का प्रयोग करता, तव फ्रांसिस जुआन फेरनान्देस को भी उसी कर्कशता के साथ उत्तर देने को कहते। ऐसी हालत में ईंट का जवाव पत्थर से ही देना ठीक जंचता, यद्यपि ऐसा करना मृत्यु को ललकारना था। कितनी वार तो वेचारे फरनान्दस भय से कांप उठते, लेकिन सन्त अपनी नीति नहीं वदलते। जापानियों के हृदय में अपने वौंजों के प्रति जैसी श्रद्धा थी, वह सन्त फ्रांसिस भली भांति जानते थे। उनकी धारणा ही नहीं, दृढ़ विश्वास था कि जव जापानी ख्रीस्त सेवकों का आदर अपने कुकर्मी वौंजों से अधिक करना नहीं सीखेंगे, तव तक ख्रीस्त की प्रेम-शिक्षा जापान की भूमि में जड़ नहीं पकड़ सकेगी। ऐसे शुभ कार्य में यदि प्राण भी चले जाएं तो सौभाग्य ही होगा।

सफलता नहीं मुस्कुराई

जान पर खेल कर भी परिश्रम करने के वाद जापान में सफलता नहीं मुस्कुराई। विलास और वैभव के उस नगर में पुण्य और तप के लिए जगह नहीं थी। फ्रांसिस मिआको जाने के लिए व्यग्र हो उठे, उनका स्वप्न अभी अधूरा जो था। उन्होंने अपनी आंखें उगते सूर्य की ओर उठाईं, प्राची का आकाश आशा रश्मि से रंजित था। मिआको संपूर्ण जापान की राजधानी थी, मिआको का सूर्यवंशी राजा समस्त जापान का राजा था। उसी से ख्रीस्त मत के प्रचार की अनुमति संत फ्रांसिस मांगना चाहते थे। ख्रीस्त जयन्ती से एक सप्ताह पहले अपने दो साथियों के संग फ्रांसिस अपना बचा खुचा सामान लेकर मिआको की ओर चले। यामागुची और मिआको के वीच दो सौ मील का फैसला था और सवसे निकट वंदरगाह इवाकूमी वहां से चालीस मील था। दिसम्वर की सर्द में जव वर्फ घुटनों तक लगी थी, सूती वस्त्र पहने और न्यूनतम भोजन पर ही आशावादी फ्रांसिस नदी-नालों को लांघते नंगे पैर इवाकूमी की ओर लपके।

शीत में दिन भर चलने से उनके पांव फट गए थे, तलवों से खून बहने लगता था। फिर भी फ्रांसिस बढ़े जा रहे थे, प्रभु के ध्यान में मग्न, उन्हीं ख्रीस्त के पदचिह्नों के अनुगामी जिन्होंने क्रूस की बलिवेदी पर अपने प्रेम का प्रमाण दिया था।

दिन भर की यात्रा के बाद वे किसी सराय में रुकते तो सोने के लिए चटाई और काठ का टुकड़ा मिलता। फ्रांसिस बहुधा चटाई को ऊपर से ओढ़ लेते। किसी तरह यह दूरी तय कर ख्रीस्त के वीर इवाकूमी से जहाज द्वारा मियानीमा के लिए रवाना हुए। जहाज पर यात्रा कुछ आसान और सुखद हो सकती, लेकिन खुले जापानी सागर में बर्फीली हवा की मार चेहरे पर चाबुक की तरह पड़ती थी। सहयात्रियों का अमानुषिक व्यवहार तो उससे भी अधिक चुभता था। युवक व्यापारियों की नजर में ये लोग पशुओं से भी गए-गुजरे थे। एक व्यापारी ने उन्हें मसखरा समझ कर उनकी हंसी उड़ाना शुरू किया। उसकी चंचल प्रकृति के कठोर प्रहार सहते-सहते फ्रांसिस ने उसे एक बार कह ही दिया, तुम मुझसे ऐसा बर्त्ताव क्यों करते हो, जब मेरे हृदय में तुम्हारे प्रति ऐसा प्रेम है कि मैं तुम्हें मुक्ति का सच्चा मार्ग दिखलाने के लिए उत्सुक हूं।

जहाज जापान सागर में बिखरे असंख्य छोटे-छोटे द्वीपों से कतराता आगे बढ़ता जा रहा था, जैसे कमल से भरे सरोवर में कोई राजहंस। कहीं-कहीं वह ठहर भी जाता था। तोमोत्सु द्वीप में जब जहाज रुका, तब एक बौद्ध ने यह सुनकर कि संत फ्रांसिस गौतम बुद्ध की जन्मभूमि से आ रहे हैं, अपने किसी सिकाई निवासी मित्र के नाम एक पत्र दिया। उस पत्र में उसने अपने मित्र से इन तीन यात्रियों को मिआको पहुंचने में सहायता करने को लिखा था। सकाई से बहुत से रईस मिआको जाया करते थे, उनके नौकर-चाकर, प्रतिरक्षक आदि के साथ रहते थे। उनकी संगति में संत फ्रांसिस को किसी प्रकार का डर नहीं होगा।

सकाई में

सकाई हमारे तीन यात्रियों की ओर हाथ पसारे नहीं दौड़ा। यह जापानी नगर था, ऐश्वर्य से भरा। जहां धन कमाने की धुन में साठ हजार निवासी दिन रात एक कर रहे थे, वहां इन गरीब यात्रियों को भला कौन पूछता। वे दिन भर गलियों में पत्र लिए भटकते रहे। उन्हें पाकर नगर के बच्चों को मनोरंजन का

साधन अवश्य मिल गया। बड़ों का सह पाते ही वे हाथ में ईंट लेकर उनके पीछे दौड़ने लगे। जान की खैर मनाते-मनाते संत फ्रांसिस और उनके साथी नगर के बाहर भागे। संध्या हो गई थी, देवदारु के वन में उन्होंने दुष्ट बच्चों से बचकर रात काटी। वे दूसरे दिन सूर्य निकलते ही अपने मित्र की खोज में निकले और भाग्यवश बच्चों की टोली से मुठभेड़ होन के पहले ही उस मित्र का पता लग गया। उनका नाम था कूदो। इस सज्जन ने जापान के परम्परागत अतिथि सत्कार के अनुसार अपने मेहमानों का सप्रेम स्वागत किया। कूदो के सुनने में आया कि सकाई से कोई रईस अपनी पालकी पर तुरंत मिआको के लिए रवाना होनेवाला है। उसकी रक्षा के लिए हथियारों से लैस कुछ सिपाही भी जा रहे हैं। इन अंगरक्षकों के बिना मिआको पहुंचना असंभव है। कूदो ने अपने मित्र के अनुरोध के अनुसार फ्रांसिस और उनके साथियों को उस रईस के साथ लगा दिया। फ्रांसिस को अपना अधिक सामान तो था नहीं, रास्ते भर वे अपने रक्षक रईस की गठरी ढोते चले। जनवरी की दांत कटकटानेवाली सर्दी पड़ रही थी, संत के नंगे पैर उस ठंढ में फट रहे थे, लेकिन उनके मुखमंडल पर प्रसन्नता विराज रही थी। आनन्द और उत्साह से स्यामी टोपी पहने, बच्चों की तरह उछलते-कूदते, वे आगे बढ़ रहे थे। कभी वे अपनी टोपी ऊपर उछालते, कभी जेब से सेब निकाल कर ऊपर फेंकते। कठिनाइयां मानों लाख चेष्टा करके उन्हें हताश नहीं कर सकती थीं। उनका आनन्द कोई नहीं छीन सकता था। उनका अधूरा स्वप्न अब पूरा होने जा रहा था, ऊषा की स्वर्णिम किरणों के साथ, ऐसा उनका विश्वास था। हां, ऊषा आएगी और उनको जगा जाएगी लेकिन निराश ही करने के लिए।

जापान के राजा तेन्नो, स्वर्गपुत्र की राजधानी मिआको, आधुनिक क्विओटो की ही नींव पर आज से चार सौ बरस पहले खड़ी थी। इससे तीन मील अलग हिएइज़ान पहाड़ी पर उसी नाम का एक विश्वविद्यालय था। यह हिएइज़ान विश्वविद्यालय जापान के सभी विश्वविद्यालयों में प्रमुख था। इसी की प्रशंसा सन्त फ्रांसिस ने मिआको और वान्दु के मठ में भिक्षुकों के मुख से सुनी थी। उसी दिन से उनके हृदय में एक अदम्य जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी। उस विद्यालय को वे अपनी आंखों देखना चाहते थे और अपने इस काम में सफल हुए तो अन्तो-

नियो मोमेज को अवश्य वहां बुलाएंगे, बशर्ते की वह सन्त फ्रांसिस के आदेशानुसार अपनी आत्मा की देखरेख करता रहे। लेकिन ऐसा होने को नहीं था। यदि अन्तोनियो वहां पहुंच पाता, तो उसे वही निराशा होती, जैसे फ्रांसिस को हुई थी। अन्तोनियो के कोईम्ब्रा से हिएइज़ान का विद्यालय बहुत भिन्न था। जापान के विश्वविद्यालय सर्वप्रथम मठ थे, जहां नए और पुराने भिक्षुक शिक्षण ग्रहण करने आते थे। वहां न पेरिस के विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान थे, न अमूल्य ग्रन्थों से भरा पुस्तकालय। और वे भिक्षुक पेरिस के विद्यार्थियों की भांति शिक्षा के भूखे भी नहीं थे। उन्हें द्रव्य की भूख थी, जिसके कारण समस्त मिआको उनसे घृणा करता था। संसार के सुखों को उन्होंने नाममात्र को ही त्यागा था। मठ की चहारदीवारी के अन्दर उन्हें विलास के सभी साधन उपस्थित थे। वे धन प्राप्त करने के लिए अपनी पहाड़ी से उतर कर नगर में आया करते थे, लुटेरों के समान शस्त्र से लैस। उनकी इस अराजकता से मिआको नगर को बड़ी क्षति उठानी पड़ती थी, नगर के काले-कलूटे खंभे उनकी बर्बरता के साक्षी थे।

हिएइज़ान मठ

मिआको में सन्त फ्रांसिस और उनके साथी एक कोनिशी रिउसा के घर उतरे। ये सज्जन सकाई के कूदो के मित्र थे। लेकिन वहां से हिएइज़ान के मठ के दर्शन करना मुश्किल था। दर्शनार्थी साधारणतः मठ के निकटवर्ती नगर साकामोतो में ठहरा करते थे। वहां से मठ में प्रवेश करना आसान था। साकामोतो में कोशिनी के जमाता रहते थे, जो संत फ्रांसिस के लिए सारा प्रबन्ध कर सकते थे। उन्हीं की सहायता से संत फ्रांसिस और उनके साथी मठ के पासवाली बिवा झील के तट पर बैठे मठ के द्वार खुलने की प्रतीक्षा कर रहे थे। लेकिन हिएइज़ान का द्वार गरीबों के लिए नहीं खुलता था, और उस भिखमंगे के लिए तो कदापि नहीं, जिसके हाथ में भिक्षुकों के लिए कोई उपहार नहीं थे। उसके तो कपड़े भी अच्छे नहीं थे, फटे-पुराने कपड़े पहने, हाथ में किताबों की झोली लेकर मठ में प्रवेश पाना असम्भव था। एकाएक सन्त फ्रांसिस की नींद टूटी, अब तक निर्धन जीवन बिताने में उन्हें आनन्द मिलता था, लेकिन हिएइज़ान की सीढ़ियों पर भीखमंगे के समान बैठे उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। यदि जापान के मठ

केवल शाही पोंशाक में आए दर्शनार्थी के लिए ही अपने किवाड़ खोलते तो वे महाराजा की तरह रेशम पहने और आभूषणों से लदे आएंगे।

वे हिएइज़ान में निराश होकर स्वर्गपुत्र सूर्यवंशी से मिलने मिआको लौटे। यहां भी उन्हें उसी तरह निराशा हुई। जापान का यह पौराणिक नरेश केवल नाममात्र का राजा था। शासन की बागडोर राजा के पतन के बाद मिआको के शोगुन के हाथ में चली गई थी, लेकिन बौद्ध भिक्षुओं के चलते वहां भी अधिक दिन नहीं टिक सकी। जापान के शासक अब मिआको में नहीं, यामागुची, कागोशिमा आदि नगरों में रहते थे और विश्वविख्यात मिकादो शासनसूत्र संभालने के बदले आटे-दाल की समस्या हल करने में व्यस्त था। संत ने उससे मिलने की अनेकों बार चेष्टा की, लेकिन सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। जापान के नरेश द्वार खोल अपनी दरिद्रता और शक्तिहीनता उसी के सामने व्यक्त करने को तैयार थे, जो उसे दूर करने में उनकी सहायता करने को तैयार हो। संत फ्रांसिस ने अपने उपहारों का वर्णन उनके पास भेजा, फिर भी द्वार नहीं खुला। और अच्छा ही हुआ कि उनके उपहार हिरादो में सुरक्षित पड़े थे, नहीं तो वे हाथ से निकल जाते और तेन्नो द्वारा दी गई अनुमति का सम्मान उतना ही होता, जितना उस कठपुतले नरेश का होता था।

मिआको में ग्यारह दिन रहकर संत फ्रांसिस ने यामागुची लौटने की सोची। इस बार वे स्थल मार्ग छोड़कर सेतगावा नदी से जाना चाहते थे। ग्यारह ही दिनों में लोगों को संत फ्रांसिस की भक्ति और ईशप्रेम का पता लग गया था। मिआको से चलते समय संत फ्रांसिस ने अपने साथ कुछ सूखे फल खरीदते चले। रास्ते में वे लड़कों को बांटते जाते थे। स्त्रियां अपने बीमार बच्चों को उनके पास लातीं और संत उन्हें सुसमाचार से उद्धृत कोई अमर बोल लिखकर देते। स्त्रियां उन्हें अपने पुत्रों के गले में पहना देतीं।

संत फ्रांसिस जनवरी महीने में अपने दो साथियों के संग एक खुली नाव में ओसाका की ओर जा रहे थे। सकाई में उन्होंने अपने मित्र कूदो को नमस्कार कर उससे विदा ली। और १५५१ के मार्च महीने के प्रारम्भ में हिरादो पहुंच गए। तोरेस के आनन्द और आश्चर्य की सीमा न रही, उनके प्यारे स्वामी फ्रांसिस मिआको के राजा के दरबार में सुरक्षित लौट आए थे। शायद वे सोच

रहे थे, अब किसी का डर नहीं, अब तो सारा जापान प्रभु के प्रेम-संदेश से गूंज उठेगा। संत फ्रांसिस की यात्रा का वर्णन सुनकर उन्हें कभी आश्चर्य होता और कभी ग्लानि कि उस कठिन परिस्थिति में वे अपने प्यारे मित्र का साथ नहीं दे सके थे।

अथक फ्रांसिस फिर उत्तर की ओर जाने की तैयारी करने लगे। लेकिन यह कितनी भिन्न थी उस चार महीने पूर्व की तैयारी से।

रेशमी वस्त्रों में

अब तक जापान के तीन शासकों से संत फ्रांसिस की भेंट हुई थी। मिकादो किसी भी हालत में नरेश के नाम के योग्य नहीं थे। रह गए थे कागोशिमा, हिरादो और यामागुची के शासक। कागोशिमा ने उनके प्रचारकार्य पर प्रतिबंध लगा दिया था, हिरादो को धार्मिक बातों में कोई रुचि नहीं थी और उस छोटे से द्वीप पर राज्य करनेवाले शासक की हस्ती ही क्या थी। यामागुची का राजा ही सबसे शक्तिशाली जान पड़ता था, लेकिन उसने भी संत के सामने अपनी प्रकृति का परिचय दे दिया था। फिर भी फ्रांसिस ने उसी को मलक्का से लाए अपने उपहारों का योग्य पात्र समझा। यदि उसकी छत्र-छाया प्राप्त हो गई, तो ख्रीस्त की प्रेमशिक्षा के प्रचार का भविष्य उज्ज्वल हो सकता था, कम से कम उस नरेश के राज्य में। उन्होंने अपने उपहारों की पेटी खोली और निकाले, दोन पेद्रो द गामा द्वारा दिए रेशमी वस्त्र। ये पुर्त्तगाली राजदूत के वस्त्र थे, जो संत फ्रांसिस पहन कर यामागुची के राजा से मिलने जा रहे थे।

मिआको से लौटकर संत ने अपनी योजना कार्यान्वित करने में देर न की। राजदूत के दल में हिरादो से अविलम्ब प्रस्थान किया। राजदूत थे संत फ्रांसिस और जुआन फेरनान्दस, बर्नर्ड तथा एक दूसरे जापानी ख्रीस्तीय उस मंडल के सदस्य। शायद मलयाली आमादोर भी उनके साथ गए। मलक्का से वे ही उपहार चुनकर लाए गए थे जिनको देखकर किसी भी जापानी राजा के मुंह में पानी आ जाता। एक घड़ी जो घंटे-घंटे बजती थी, एक वाद्य मंजूषा, दर्पण, सुन्दर तीन नलीवाली बंदूक, कई थान कपड़े, दो चश्मे, कीमती जिल्दों में बंधी पुस्तकें, कुछ शीशे के फूलदान, तेल चित्र और उमदा शराब। इन सब वस्तुओं

को उन सोलहवीं सदी के जापान में पाना मुश्किल था। राजदूत संत फ्रांसिस के हाथ में दो प्रमाणपत्र थे, एक मिला था पुर्त्तगाल के राजा तीसरे योहन के प्रतिनिधि गोआ के राज्यपाल से, और दूसरा रोम के संत पिता तीसरे जुलियन के नाम में गोआ के धर्माध्यक्ष से।

राजदूत का जहाज यामागुची से कुछ दूर एक बंदरगाह में लगा और उपहारों को गाड़ी पर लाद कर इस प्रतिनिधि मंडल ने नगर में प्रवेश किया। यामागुची के राजा ऊची योशिताका को पहले खबर कर दी गई थी कि संत फ्रांसिस पुर्त्तगाली राजदूत की हैसियत से उनसे मिलने आ रहे हैं। जब शाही शानशौकत में संत फ्रांसिस का मंडल यामागुची पहुंचा तो राजा के रईसों और दरबारियों ने उनके स्वागत में पलक-पावड़े बिछा दिए। तुरन्त राजा से मिलने का प्रबन्ध किया गया। उपहारों और पत्रों को देखकर योशिताका के आनन्द और आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उन विदेशी प्रचारकों की उदारता से उसका हृदय लहर मारने लगा। राजा की आज्ञा से सोने-चांदी का ढेर उनके सामने रख दिया गया, उसी संत फ्रांसिस के सामने जो कुछ दिन पहले हिएइज़ाम मठ की सीढ़ियों पर बैठे अपनी दरिद्रता पर खीज रहे थे। उसी की प्रतिक्रिया थी कि अब वे इस शाही शान में यामागुची के राजा से मिल रहे थे। मिआको से निराश होकर उन्होंने समृद्धि को समृद्धि से पराभूत करने की ठानी थी। फिर भी उन्होंने अपनी दरिद्रता पर आंच न लगने दी, दरिद्रता उनको पहले से कम प्यारी न थी, राजदूत के उस परिधान में भी। पेरिस के मोंमात्र पर लिए व्रत की धार कुंठित न हुई थी, न कभी होनेवाली थी। क्षणभंगुर धन की खोज में, जो आज है और कल नहीं, वे इतनी दूर नहीं आए थे। उन्होंने कृतज्ञतापूर्वक राजा योशिताका के दानों को अस्वीकार कर दिया। इसके बदले वे धर्मप्रचार की स्वतंत्रता मात्र चाहते थे। ऊची के समक्ष इस तरह की मांग पहली बार रखी जा रही थी। उसने विस्मय-विमुग्ध होकर अपने राजदरबारियों को आज्ञा दी कि नगर के कोने-कोने में विज्ञप्तियां और परचे लटका दिए जाएं, जिनसे प्रत्येक नागरिक को विदित हो जाए कि पश्चिम से आए प्रचारकों के मत को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं। राजा ने जापान की परम्परागत आतिथ्य-पद्धति के

अनुसार एक खाली मठ अपने अतिथियों को रहने के लिए दिया, जहाँ से वे धर्म-प्रचार के कार्य आसानी से कर सकते थे। फ्रांसिस का हृदय वांसों उछल पड़ा, उनका वह अधूरा सपना अव पूरा हो गया, मिआको में नहीं, यामागुची में, जिसकी उन्होंने कभी आशा नहीं की थी। राजकीय अनुमति और राजकीय स्वागत दोनों ही उन्हें प्राप्त हो गए। ये दोनों उनके प्रचार-कार्य के लिए आवश्यक थे। उस सुनसान मठ का भी सितारा चमक उठा, उससे वढ़कर दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य वहां कभी संपादित नहीं हुआ था। वह अव ख्रीस्त-शिक्षा का प्रकाश-स्तंभ वन गया, जो अपने प्रेम-किरण द्वारा सवों को सुरक्षित स्थान की ओर इंगित करता रहेगा।

संत की शिक्षा

संत फ्रांसिस के नए आश्रम में दिन भर श्रोताओं का तांता लगा रहता। दिन में दो वार वे धर्मशिक्षा देते और उसके वाद वाद-विवाद हुआ करता। सारी जनता उस विदेशी प्रचारक की अमृतवाणी सुनने के लिए उत्सुक जान पड़ती। मठ के अन्दर तिल रखने की जगह न मिलती थी, कितनों को वाहर से ही सुनकर संतुष्ट हो जाना पड़ता। लेकिन उनके ख्रीस्तमत ग्रहण करने में अभी देर थी। इसका प्रमुख कारण था सदियों से प्रचलित वौद्धमत, जिसका अनेकों रूपान्तर इस समय तक हो चुका था। वौद्धमत की नास्तिकता के अंधकार में भटकते जापान के लिए ख्रीस्तमत के सृष्टिकर्त्ता पर तुरन्त विश्वास कर लेना कठिन था। ईश्वर क्या हैं, उनका क्या रूपरंग है, वे कहां रहते हैं, आदि प्रश्नों की वौछार दिन रात होती रही। गौतम वुद्ध ने ईश्वर की चर्चा नहीं की थी, शून्य में विलीन हो जाना ही उनका निर्माण था। उनके अनुयायियों ने ईश्वर की सत्ता ही मिटा दी थी, तो उस ईश्वर से संसार की सृष्टि कैसे हो सकती।

इस सिद्धांत का पालन सदियों से करने के बाद वे पहली वार एक विदेशी के मुंह से ईश्वर का नाम सुन रहे थे, जिन्होंने इस सुन्दर संसार की सृष्टि की है और इस जगत की सृष्टि से पहले थे। जो अनंत हैं, अनादि हैं, इस संसार के मानवों की मुक्ति चाहते हैं और इसी कारण अपने एकलौते पुत्र, परम प्रभु येसु को यहां भेजकर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस नए सत्य को सुनकर उनके मस्तिष्क में उथल पुथल मचने लगी। वे आपस में तर्क-वितर्क करने लगे कि यदि उसी ईश्वर ने इस संसार को वनाया है तो वे अच्छे कैसे हो सकते हैं, जब इस संसार में इतनी वुराइयां हैं ? वे दयालु कैसे हैं, जब पापियों को नरक का दंड देते हैं, उनकी आज्ञाएं इतनी कठिन हैं, और शैतान भी उन्हीं की सृष्टि है, जो सदा मनुष्यों को पाप में गिराने की चेष्टा करता है ?

संत ने उन्हें वताया कि ईश्वर ने अपदूतों को वुरा नहीं वनाया था, वे भी स्वर्ग दूतों के समान थे, लेकिन स्वेच्छापूर्वक ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कर अपदूत बने। संसार की बुराइयां शाश्वत नहीं, क्षणिक हैं और उनको सप्रेम स्वीकार कर हम ईश्वर के प्रति अपना प्रेम दिखा सकते और इस प्रकार दूसरे जीवन के लिए पुण्य कमा सकते हैं। ईश्वर हमें नरक नहीं देते,हम स्वयं अपने पापों के द्वारा उसे चुन लेते हैं। शैतान मनुष्यों को पापों में गिराने की कोशिश अवश्य करता है लेकिन ईश्वर भी अपनी कृपा के द्वारा उस पर विजय प्राप्त करने के लिए हमारी सहायता करते हैं। मनुष्य केवल शैतान के प्रलोभनों और अपनी कमज़ोरी के कारण पाप में नहीं गिरता, वह अपनी स्वतंत्र इच्छा से भी पाप करने को राजी हो जाता है।

इसके वाद लोगों की समझ में आने लगा कि ये विदेशी प्रचारक उन बौद्ध भिक्षुओं से कितने भिन्न हैं। उन्होंने अपनी आंखों देखा कि सन्त फ्रांसिस ईश्वर के विश्वप्रेम का प्रचार करते हैं और अपने कार्यों में उसका पालन भी करते हैं। धीरे-धीरे उनकी भ्रामक धारणाएं दूर होने लगीं, सूर्योदय के समय कुहरे की तरह। उन्होंने फ्रांसिस से भूगोल और खगोल संवंधी भी अनेक प्रश्न किए। उनके उत्तर में उन्हें वड़ा आश्चर्य हुआ और वर्फ, तारे, दिन-रात, वर्षा, विजली आदि प्रकृति संवंधी समस्याओं का तार्किक समाधान पाकर उनकी व्यग्र बुद्धि को शान्ति मिली। संत फ्रांसिस उनके लिए ईश्वर भक्त ही नहीं रहे, वे लोग उनको प्रकांड पंडित भी मानने लगे। उनके पांडित्यपूर्ण उत्तरों को सुनकर कितने जापानियों को दुख भी हुआ। यदि ये वातें और विशेषतः आत्मा और ईश्वर संवंधी वातें, सत्य हैं तो उनके पूर्वजों को इसका ज्ञान क्यों नहीं था और चीन

जो सबका भंडार है, इन सब तथ्यों से अनभिज्ञ क्यों रहा ? उनकी यह शंका और दुविधा देखकर फ्रांसिस ने उन नैतिक नियमों पर प्रकाश डाला जो प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरण में पाया जाता है, भलाई करो और बुराई से बचो । प्रत्येक मनुष्य इस नियम को जानता है और इसी से वह भला और बुरा पहचान सकता है । भीखमंगे को भिक्षा दान करना अच्छा माना जाता है और निर्दोष व्यक्ति को दंड देना बुरा, इसका ज्ञान प्रत्येक वयस्क को प्राप्त है । यद्यपि उन जापानियों के पूर्वजों को ख्रीस्तीय मत का ज्ञान नहीं था, उन्हें भी ईश्वर प्रदत्त अन्तःकरण प्राप्त था, जो सदा मनुष्य को उसके हरएक कार्य के लिए डांटता और सराहता रहता है । इसका ज्ञान उनके पूर्वजों को ही नहीं था, इसे जापानियों के परम्परागत गुरु चीनी तथा समस्त मानव जाति दुनिया के शुरू से जानती आई है ।

धर्म की चर्चा चल रही थी, लेकिन यामागुची का कोई भी नागरिक खीस्त-मत ग्रहण करने को अब तक तैयार नहीं हुआ था । इन विवादों में केवल आम जनता ही भाग नहीं लेती, जापान के धर्मगुरु बौद्ध भिक्षुक भी संत की बातें सुनने आते और उनको वाक्‌युद्ध में पराजित करने का प्रयास करते । इनमें बहुतेरे जैन सिद्धांत को माननेवाले थे, जो आत्मा की अमरता पर विश्वास नहीं करते । फ्रांसिस ने इनको भी मुंहतोड़ जवाब दिया ।

ये वादविवाद संत फ्रांसिस के मठ तक ही सीमित नहीं रहते । जब फ्रांसिस अपने साथी जुआन फेरनान्दस के साथ नगर की गलियों में उपदेश देने निकलते, तब वहां भी कुछ ही समय में विवादी आ जमते । लेकिन अधिकांश समय उपदेश देने में ही बीतता । दस हफ्तों तक संत फ्रांसिस और फेरनान्दस प्रति दिन नगर में जाया करते थे, फिर भी किसी ने ख्रीस्तमत स्वीकार नहीं किया । तब एका-एक वह समय आया जब ईश्वर की कृपा लोगों पर उतरी । फेरनान्दस खीस्तीय सिद्धांतों की टीका कर रहे थे और सन्त फ्रांसिस उनके श्रोताओं के लिए घुटने टेक कर प्रार्थना । इतने में एक अशिष्ट व्यक्ति फेरनान्देस की ओर बढ़ा और जोर से उनके मुंह पर थूक दिया । फेरनान्देस ने जेब से कागज का रूमाल निकाला और अपना गाल पोंछ लिया, उनके मुंह से फटकार का एक शब्द भी नहीं निकला, न उनकी वाग्धारा में किसी प्रकार की रुकावट ही हुई । उस भीड़ में एक व्यक्ति था जो संत फ्रांसिस का विरोध किया करता था । फेरनान्दस के इस अनूठे प्रेम

का उस पर विचित्र प्रभाव पड़ा। उपदेश समाप्त होने के बाद खीस्त के दोनों प्रचारक अपने मठ में लौटने लगे। संत फ्रांसिस का विरोधी भी उनके पीछे हो लिया। मठ में प्रवेश कर उसने फ्रांसिस से खीस्तीय दीक्षा लेने का आग्रह किया। बाधा हट गई थी, हृदय तैयार था बपतिस्मा की धारा में परिप्लावित होने के लिए। कुछ ही दिनों के अन्दर यामागुची में खीस्तीयों की संख्या पांच सौ हो गई। उन पांच सौ खीस्तीयों में दो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

वह पंगु मशखरा

जापान की सड़कों पर एक पंगु मशखरा लोगों को अपने मजाकों से हंसाया करता था। उसके सस्ते तंबूरे की मधुर लहरी के साथ लोगों का हृदय भी झंकृत हो उठता था। लोग उसे मानते थे, वह पंगु था, लेकिन था मेधावी। गलियों में ही उसका नाम नहीं होता, रईसों की कोठियों के द्वार भी उसके लिए सदा खुले रहते। यामागुची के लोग जब फ्रांसिस के उपदेश सुनने जमा होते तो वह भी बड़े ध्यान और दिलचस्पी के साथ सुनता और फेरनान्दस से तर्कपूर्ण प्रश्न भी करता। जब वह फेरनान्दस से अपनी मातृभाषा में अपनी कठिनाइयों का उत्तर पाता, तो वह आनंद से नाच उठता। वह धीरे-धीरे फ्रांसिस की ओर आकृष्ट होता जा रहा था। संत फ्रांसिस के प्रति उसकी श्रद्धा इतनी बढ़ गई कि वह उनका सहायक प्रचारक बन गया। उसके तंबूरे के तार पुनः झंकृत हुए और लौरेन्स की कंठ-वीणा से अब खीस्त का प्रेम-गान ध्वनित होने लगा। अन्त में पंगु लौरेन्स येसुसमाज का धर्मबंधु बन कर तीस वर्षों तक अपने देश भाइयों के हृदय-प्रदेश को खीस्त-शिक्षा की अमृत-धारा से सींचता रहा। उसकी विलक्षण बुद्धि के सामने सारा जापान नतमस्तक हो जाता। हिएइजोन के भिक्षुक भी उसका सम्मान करते थे। उसे न अपनी जान की परवा थी और न लोगों का डर था। वह निर्भय होकर जैन बौद्धों के साथ आत्मा की अमरता पर तर्क करता था।

सत्यार्थी पंडित

लौरेन्स के विपरीत प्रकृतिवाले एक पंडित का भी मत परिवर्तन हुआ। सच्चे ज्ञान की खोज में उसने दर-दर की खाक छानी थी। अन्त में वह बौद्ध मठ की शरण गया। लेकिन भिक्षुओं के खोखले जीवन से निराश होकर उसने

वैवाहिक जीवन अपनाया। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, सृष्टिकर्त्ता ईश्वर पर उसका विश्वास दृढ़ होता गया। उसी समय संत फ्रांसिस यामागुची पहुंचे, तब तक उस पंडित का हृदय-मंदिर ख्रीस्तदेव को बैठाने के लिए तैयार हो चुका था। सच्चे ज्ञान का स्रोत पा उसने बपतिस्मा ग्रहण किया। उसके मत परिवर्तन से नगर भर में खलबली मच गई। उसके संबंधियों तथा सहधर्मियों ने उसे देशद्रोही कहा, लेकिन सन्त और अन्य ख्रीस्तीयों ने श्रद्धा से परिप्लावित होकर उसे वीर कहा। रिश्तेदारों और तथाकथित शुभचिन्तकों का विरोध सह कर भी नवप्राप्त सत्य को नहीं त्यागना, क्या यह सच्ची वीरता नहीं है ?

जब ख्रीस्तीय धर्म का प्रचार वायु वेग से चल रहा था, तभी फ्रांसिस को एक नई बला का सामना करना पड़ा। यह भाषा संबंधी कठिनाई थी। अबतक वे ईश्वर के लिए जापानी भाषा में प्रचलित "देनुची" का प्रयोग कर रहे थे। अपने गुरु पौल के सुझाव पर उन्होंने अपनी सीमित शब्दावली में इसे स्थान दिया था। जब वे दूसरी बार ऊची योशिताका के दरबार में पहुंचे तो वहां सिगोन बौद्ध मतावलंबी बौंजों से उनकी भेंट हुई। यह मत जापानियों ने अपने पड़ोसी चीन से प्राप्त किया था और चीन ने भारत से। कोबोदेशी नामक एक भिक्षुक इस मत के मुख्य प्रवर्तक थे। इस मत के रहस्यमय सिद्धांत समझना जनसाधारण की बुद्धि से परे था। इसलिए बौद्ध भिक्षुओं ने अपने कम शिक्षित भाइयों के लिए इसका एक सहज रूप निकाला था। इसकी बहुत-सी रीतियां काथलिक गिरजा की रीतियों से मिलती-जुलती थीं। फ्रांसिस ने पहले सोचा कि शायद यह समानता नेष्टोरीय विभेदियों के प्रभाव तथा प्रचारकार्य से चीन में उत्पन्न हुई होगी। तब भी उनका अपना व्यक्तिगत विचार था कि जापान को सच्चे ईश्वर और उनके एकलौते पुत्र येसु ख्रीस्त का प्रेम संदेश कभी भी सुनने को नहीं मिला था।

ऊची के दरबार में शिगाने बौंज ने संत फ्रांसिस से उनके ईश्वर के विषय में पूछना आरंभ किया। उन्हें रंगरूप, आकार-प्रकार है या नहीं ? संत ने उत्तर दिया, "ईश्वर को न रंग है, न रूप है, न आकार-प्रकार है, वे सब दूसरी चीजों से भिन्न ही नहीं, बल्कि उन सब चीजों के सृष्टिकर्त्ता हैं। वे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और अनंत कल्याणमय हैं। उनका न आदि है, न अन्त। यह सुन कर शिगोन

बौंजों के आनंद का पारावार न रहा। उन्होंने एक साथ चिल्लाकर कहा, "हमारे भी दैनुची ठीक आपही के ईश्वर के सदृश हैं। हम दोनों के मतों में केवल नाम का अन्तर है। तत्त्व दोनों एक ही हैं।" उन्होंने आनंद के आवेश में संत को अपने मठ में निमंत्रित किया।

भिक्षुओं की चाल

संत फ्रांसिस को उनके इस आचरण से संदेह हुआ। उन्होंने रहस्य का पता लगाने की सोची। दूसरी बार उनके मठ में पहुंच कर उन्होंने पवित्र त्रित्व तथा परम प्रभु येसु के शरीर धारण के विषय में प्रश्न किया। तव शिगोनी बौंजों की काली करतूतों का भंडाफोड़ हुआ। संत फ्रांसिस और फेरनान्दस के उपदेशों से शिगोन मठ के शिष्यों की संख्या घटने लगी। यह देख उन्होंने संत को सम्मानित कर अपने शिष्यों को धोखा में रखने का षड्यंत्र रचा था। काथलिक और शिगोन मतों में केवल वाह्य भिन्नता दिखाकर वे उन्हें अपने ही मत में स्थिर रखना चाहते थे। और यदि उनके शिष्य संत के मुंह से ही दोनों मतों की तात्त्विक समानता सुन लेते, तो खीस्तमत अपनाने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। इस षड्यन्त्र से जैसे ही सन्त फ्रांसिस की आंखें खुलीं, उन्होंने दैनुचीं शब्द को अपनी शब्दावलि से हटा दिया। उसके बदले उन्होंने लाटिन भाषा के देउस का प्रयोग शुरू किया। पर शिगोन वौद्धों ने अपना पैतरा बदला। अपने को हारते देख उन्होंने लोगों को फ्रांसिस के विरुद्ध भड़काना शुरू किया। लड़कों से उन्हें बड़ी सहायता मिली। ये यामागुची की सड़कों पर संत फ्रांसिस के पीछे-पीछे "दायुसु दायुसु" चिल्लाने लगे। देउस शब्द पर वौद्धों ने भी टीका-टिप्पणी की, "दायी" का अर्थ उन्होंने अपनी भाषा में "महा" लगाया और "उसी" का अर्थ था झूठ, इस तरह खीस्तीयों के ईश्वर का नाम "महाझूठ" था।

फुनाई से निमंत्रण

यामागुची से दक्षिण वुंगो का द्वीप-खंड था जिस पर फुनाई के शासक का आधिपत्य था। राजधानी से कुछ दूर वुंगों का मुख्य वंदरगाह ओकिनोहामा था। इसी बंदरगाह पर एदुआर्तो द गामा का जहाज लगा हुआ था। इन

नाविकों के मुंह से फ्रांसिस की प्रशंसा सुन कर ओतोमो योशिशिजे को उनसे मिलने की तीव्र उत्कंठा हुई। जब संत फ्रांसिस यामागुची में व्यस्त थे, उन्हें फुनाई के शासक का निमंत्रण मिला। बुंगो का नाम सुनते ही संत के कान खड़े हो गए। बुंगो के मठ की गणना जापान के प्रसिद्ध मठों में होती थी। यहां के भिक्षुओं से संत फ्रांसिस की भेंट कागोशिमा में हो चुकी थी। अब उसी बुंगों से उनको निमंत्रण आ रहा था। और किसी पुर्त्तगाली नाविक के जरिए पुर्त्तगालियों के आने का समाचार पा संत फ्रांसिस को अपने प्यारे बंधुओं की याद सताने लगी। वे कितनी दूर थे उनसे। शायद उनके पत्र भी आए हों। संत फ्रांसिस का दिल मचल उठा। उन्होंने तुरंत हिरादो से तोरेस को बुलाया। यामागुची के नवखीस्तीयों को उनके हाथों सौंप वे स्वयं सितंबर के दूसरे पखवारे में बुंगों के लिए रवाना हो गए। अपने साथ वे तीन जापानियों को लेते गए, योहन जिसको गोआ में आंजीरो के साथ बपतिस्मा मिला था, बर्नर्ड जिसने कागोशिमा से ही संत का साथ नहीं छोड़ा था और मत्ती, जिसका मतपरिवर्त्तन यामागुची में हुआ था। उमंग से भरे सन्त यामागुची से बुंगो एक सप्ताह के अन्दर ही पहुंच गए।

बाइस वर्षीय जैन मतावलंबी ओतोमो योशिशजे के माथे पर पितृहत्या का कलंक था। पिता के प्राण लेकर ही उसने गद्दी प्राप्त की थी और अब अधिक शक्ति की लालसा से पुर्त्तगालियों की मित्रता का अभिलाषी था। फ्रांसिस ने ओकिनहामा पहुंच कर सर्वप्रथम पुर्त्तगालियों की आध्यात्मिक सेवा की, उनके पापस्वीकार सुने तथा उनके लिए मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाया। उसके बाद वे फुनाई की ओर बढ़े। नगर के पुर्त्तगालियों तथा ओतोमो ने फ्रांसिस का भव्य स्वागत किया। दाइमियो का मित्रभाव देखकर संत फ्रांसिस को अपार आनंद हुआ।

लेकिन पुर्त्तगाली जहाज पर उनके लिए एक भी पत्र नहीं आया था। जापान आए उन्हें दो वर्ष हो गए थे और इस बीच भारत से एक भी पत्र नहीं आया था। इसका कारण क्या हो सकता है, फ्रांसिस की समझ में नहीं आ रहा था। जापान के लिए प्रस्थान करते समय उन्होंने गोआ और मलक्का के बंधुओं को बराबर पत्र लिखने के लिए समझाया था, यहां तक कि उन्हें पत्र भेजने का तरीका

भी बताया था। उनका हृदय भारत की ओर दौड़ा, वे अपने प्यारे परिया ख्रीस्तीयों के लिए व्याकुल हो उठे। अब तक उनके मन में जापान से भारत लौटने का विचार नहीं आया था। जापान से उनको स्नेह हो गया था और वे उससे अलग होना नहीं चाहते थे, जब तक ख्रीस्त-धर्म वहां स्थायी रूप से स्थापित न हो जाए।

लेकिन फुनाई पहुंच कर वे भारत लौटने की सोचने लगे। दो वर्ष पूर्व उन्होंने बेरज़े गागो तथा कारवाल्यो को जापान बुलाया था, और अब तक उनका पता न था। जापान से जाना उनके लिए जरूरी था, जापान को इससे लाभ था। एक वर्ष के अंदर वे अपने बंधुओं तथा मीन-तट के ख्रीस्तीयों से मिलेंगे तब कुछ और ख्रीस्तीय सेवकों को साथ लेकर जापान लौटेंगे। अपना यह निश्चय उन्होंने पत्र द्वारा तोरेस को लिख भेजा। यामागुची में एक गिरजाघर की बड़ी आवश्यकता थी। वहां के पांच सौ से अधिक ख्रीस्तीयों के लिए अभी तक कोई प्रबंध न हो पाया था।संत फ्रांसिस ने मेन्देज़ पिन्टो नामक एक पुर्त्तगाली व्यापारी से तीन सौ कूजादो मांग कर तोरेस के पास भेजे। इतने धन से एक सुन्दर भवन बन सकता था। जमीन तो पहले ही यामागुची के दायिमियो ने दे दी थी। लेकिन यामागुची के निर्माण में अभी और समय लगनेवाला था।

अक्टूबर के अन्त में अन्तोनियो यामागुची से फुनाई पहुंचा। यामागुची संकट काल से होकर गुजर रहा था। वहां की राजनैतिक स्थिति अस्थिर थी। ऊची के एक जागीरदार सुए ताकाफूसा ने सशस्त्र सैनिकों के साथ नगर पर धावा कर दिया था। आक्रमण होते ही ऊची नगर छोड़ कर भाग निकले थे। नगर पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया था, लेकिन आतंक का अन्त नहीं हुआ था। अग्नि-कांड और रक्तपात से सारे नगर में हाहाकार मचा हुआ था। योशि-ताका अपने राज्य के बाहर निकल भागने की ताक में लगे थे, लेकिन विद्रोहियों ने पलायन की कोई राह नहीं छोड़ी थी। अन्त में सब ओर से अपने को असहाय पाकर ऊची योशिताका ने हिराकिरी द्वारा आत्महत्या कर ली। यामागुची के सौ से अधिक मठ एक-एक कर के भस्मसात् हो रहे थे और नागरिक अपने धधकते घरों को छोड़ जंगल-झाड़ियों में तितर-बितर हो रहे थे। तोरेस और फेरनान्दस की जान पर तो और अधिक खतरा था।

बौद्ध भिक्षुक उनके घात में लगे थे। उन्होंने नगर पर आई आफत का दोष उन विदेशी प्रचारकों के सिर पर मढ़ा जिनको बलि किए बिना नगर की रक्षा नहीं हो सकती। प्राण-रक्षा के लिए तोरेस और फेरनान्दस अपना मठ छोड़ किसी नाइतो ताकाहरू नामक जोदो मतावलंवी बौद्ध के यहां छिपे थे। उस सज्जन की कृपा से वे अपने भारतीय साथी आमादोर के साथ वहीं रहे नाइतो की यह उदारता उन मठवासियों को पसन्द न आई। अपने मेहमानों को उन्होंने दो दिनों तक भूखे ही रखा। लेकिन उस मठ पर आतंकवादियों का डर देख नाइतो ताकाहरू ने तोरेस और उनके साथियों को अपने ही घर में छिपा रखा। संकट के बादल जब यामागुची से टले तो तोरेस बाहर निकले। नाइतो की उदारता का ऋण उन्होंने ख्रीस्त के पुण्य भंडार से देना चाहा। लेकिन नाइतो और उनकी पत्नी ने उसे स्वीकार नहीं किया। वे शाक्य मुनि और अमिदा के प्रति वर्षों से उदारता दिखाते आ रहे थे। उनके भिक्षुओं के लिए अनेक मठ बनवाए थे। उनका खर्च भी वे ही चला रहे थे। उनका अटल विश्वास था कि उनके परोपकार का फल उन्हें कभी न कभी शाक्य के हाथों अवश्य मिलेगा। और यदि वे इस समय ख्रीस्तमत ग्रहण कर लें, तो वर्षों का संचित पुण्य मिट्टी में मिल जाएगा। वे ख्रीस्त की उदारता नहीं पहचान सके।

यामागुची की यह दर्दनाक खबर सुन संत फ्रांसिस का हृदय भर आया। कुछ ही दिनों के बाद वहां से एक दूसरा संदेशवाहक पहुंचा। नगर में नया दाइमियो का अधिकार स्थापित हो चुका था। तोरेस नया दाइमियो से ऊंची योशिताका द्वारा दिए गए प्राधिकारों की मंजूरी कराने में लगे ही थे कि एक बार फिर यामागुची की राजनीति में कायापलट हो गया। विद्रोहियों का एक जत्था बुंगों के दाइमियो ओतोमो योशिशिज़े के दरबार में पहुंचा। वे यामागुची की गद्दी पर ओतोमो के छोटे भाई हारूदो को बैठाना चाहते थे। ओतोमो और हारूहीदो में किसी को भी इसमें आपत्ति नहीं थी। उन्होंने संत फ्रांसिस को यामागुची में धर्मप्रचार की पूरी स्वतंत्रता देने तथा प्रचारकों की रक्षा का भी वचन दिया था।

नवंबर के तीसरे पखवारे में संत फ्रांसिस फुनाई से विदा हुए। उनको

जाते देख ओतोमो का दिल बैठ गया । वे संत के व्यक्तित्व के कायल हो गए थे । वह उस खीस्तमत से मित्रता बनाए रखना चाहते थे, लेकिन खीस्तमत ग्रहण करने का उनमें बल नहीं था। संत की संगति में उन्होंने अपना राजदूत गोआ के राज्यपाल के पास भेजा और राजदूत के हाथ अनेकों मूल्यवान उपहार भी भेजे जिसमें पुर्त्तगाली राजा के नाम एक पत्र और जापानी शस्त्रास्त्र के कुछ सुन्दर तथा कीमती नमूने थे । बर्नंर्ड, अन्तोनियो और मत्ती भी उनके साथ जा रहे थे । बर्नर्ड और मत्ती यूरोप ज़ाना चाहते थे । जापान भारत से भिन्न था। भारत में स्वस्थ प्रचारकों की आवश्यकता थी, लेकिन जापान में कुशाग्र बुद्धिवालों की जो बौद्ध भिक्षुओं से वाग्युद्ध में लोहा ले सकें । जापान की जलवायु असह्य थी, रोगी तथा अस्वस्थ प्रचारक वहां अधिक दिन नहीं अड़ सकते थे। संत ने अपने यूरोपीय बंधुओं से योग्य प्रचारकों की मांग की ।

दसवां परिच्छेद

भारत में तीसरी बार

संत फ्रांसिस ने जापान को प्रणाम किया और एदुआर्दो द गामा का जहाज ओकोनोहामा के बंदरगाह से चल पड़ा। जापान का तट धीरे-धीरे आंखों से ओझल होता गया। चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देता था और सिर पर नील गगन का स्वच्छ वितान। तब एक दिन अचानक आंधी उठी और उसके थपेड़ों में पड़ एदुआर्दो का जहाज असीम जलराशि में भटकता रहा सात दिनों तक। किसी को पता नहीं था कि वे कहां हैं। जहाज से बंधी एक नाव नीचे नीचे समुद्र में चल रही थी। झंझा के एक झोंके से रस्सी टूटी और पलक मारते वह आंखों से गायब हो गई। दो मुसलमान नाविक उसे काबू में करने की कोशिश कर रहे थे। इस दुर्घटना से सब का मन विषाद से भर गया। मर्माहत यात्रियों के कान्तिहीन मुखमंडल को देख संत फ्रांसिस ने कप्तान को पाल गिराने की सलाह दी। उन्होंने कहा, ईश्वर की कृपा हुई तो तीन दिनों के अन्दर खोई नौका अपने आप नाविकों के साथ सुरक्षित लौट आएगी।

प्रति दिन प्रति क्षण कप्तान और नाविक आंखें फाड़-फाड़ कर नाव की प्रतीक्षा करते रहे। एक दिन बीत गया, दूसरे दिन भी प्राची में सूर्य उगा और अस्ताचल में मुंह छिपा लिया, किन्तु नाव दृष्टिगोचर नहीं हुई। तीसरे दिन सुनहली रश्मियों ने मल्लाहों को जगाया। बहुतों को सन्त की बातों पर कोई विश्वास न था। कुछेक के हृदय में आशा टिमटिमा रही थी। वे अब भी नाव की प्रतीक्षा में खड़े थे। तभी दूर क्षितिज से एक नाव आती दीख पड़ी। निकट आई और जहाज की बगल में लगी। जहाज से रस्सी नीचे फेंकी गई और खोए नाविक ऊपर आए। उन्हें पाकर कप्तान और उनके सहकारियों के आनंद का ठिकाना न रहा। यह चमत्कार देख उन मुसलमान नाविकों ने संत फ्रांसिस के ईश्वर के प्रति विश्वास जाग्रत हुई, उन्होंने खीस्तीय मत स्वीकार कर बपतिस्मा ग्रहण किया।

सांचन द्वीप .

सत्रह दिसंबर को द गामा का जहाज चीनी तट से सटे सांचन द्वीप पर लगा। वहां दिएगो परेरा से भेंट हुई। उनका जहाज सान्ता कूज लुक-छिपकर चीन से व्यापार करने आया था। चीन ने अपने सब बंदरगाह पुर्त्तगालियों के लिए वंद कर दिए थे, लेकिन व्यापार बन्द नहीं कर सका था। पुर्त्तगालियों के जहाज सांचन पर लगते, कांतन से चीनी व्यापारी छोटी नावों पर आते और वस्तुओं का विनिमय कर लौट जाते। चीन के सम्राट् की आज्ञा के बावजूद पुर्त्तगाली चीन की जमीन पर पैर रखते नहीं डरते, जिसके फलस्वरूप कांतन के जेल में कितने सड़ रहे थे और कितने उस रास्ते स्वर्ग भी पहुंच चुके थे। जो एक बार कांतन के जेल में पहुंच जाता, वह उससे मुक्त नहीं हो पाता। वंदियों की खबर वाहर ले जाना वहुत कठिन हो जाता। इतनी पावंदी होने पर भी उस भयंकर जेल की दर्दनाक खबर पहुंचाने के लिए कुछ भाग्यवान कैदी निकल ही आते या किसी प्रकार अपने पुर्त्तगाली भाइयों से पत्राचार कर ही लेते। ऐसे ही एक अभागे कदी का पत्र, संत फ्रांसिस के सांचन उतरने के कुछ ही पहले, दिएगो परेरा को मिला था। वह कोई पत्र नहीं था, किसी अभागे की गिड़-गिड़ाहट थी, जो अपनी मुक्ति के लिए परेरा के पैर पड़ रहा था। यदि किसी प्रकार चीन के सम्राट् के साथ पुर्त्तगालियों का राजनैतिक संवंध हो जाए, तो कांतन के नरक से वे अभागे मुक्त हो जाते।

परेरा ने वह पत्र संत फ्रांसिस को दिखाया और संत की आंखों के सामने जापान का दृश्य नाच उठा। जापान चीन को अनादि काल से अपना गुरु मानता आया है, यह उन्होंने जापानियों के मुंह सुना था। यामागुची के लोगों ने उनसे पूछा था, यदि ऐसी बात है तो चीनियों को आपकी शिक्षा का पता क्यों नहीं है ? जापान से फ्रांसिस की आंखें चीन की ओर उठीं, जो उनके सामने क्षितिज में धुंधता-धुंधला दिखाई दे रहा था। यदि चीन में खीस्त मत का प्रचार हो गया तो जापान को खीस्त के प्रेमपाश में वंधते अधिक देर नहीं लगेगी। लेकिन चीन में विदेशियों के धर्म का प्रचार, जहां जीवन की आवश्यक सामग्रियों का व्यापार भी अवैध घोषित हो चुका था, बांस के सीखचों के अन्दर कैसे प्रवेश पा सकेगा।

दिएगो परेरा के सामने चीनी-पुर्तगाली व्यापारिक तथा राजनीतिक सम्वन्ध स्थापित करने का सवाल था और संत फ्रांसिस के सामने चीन की भूमि पर ख्रीस्त की प्रेमशिक्षा के वीज वोने का प्रश्न। दोनों जाने के लिए उत्सुक थे, लेकिन दोनों के लक्ष्यों में आकाश-पाताल का अन्तर था। एक धन कमाने और कैदी वंधुओं को दुखमय जीवन से मुक्त करने, दूसरा ख्रीस्त का प्रेम लुटाने और अपरिचितों को सच्चा मुक्ति मार्ग दिखाने। दोनों अपनी साधना में सफल होने के लिए कटिवद्ध थे। रास्ते भर ये दो महानुभाव इस समस्या का हल ढूढ़ते रहे। यदि दिएगो को राजदूत वना दिया जाए तो फ्रांसिस उसके साथ चीन के राजदरवार में प्रवेश पा सकेंगे, तव कांतन के कैदियों को मुक्ति मिल सकती थी। दोनों के संकल्प वलिष्ट हो रहे थे ज्यों-ज्यों सान्ताकूस दक्षिण की ओर बढ़ता जाता था। विकल्प के लिए कोई जगह नहीं थी। फ्रांसिस दिएगो को राजदूत बनाने पर तुले थे। लेकिन... मानव जाति का महाशत्रु उनके विचारों पर अट्टहास कर रहा था, और उसकी प्रतिध्वनि फ्रांसिस के कानों तक पहुंच रही थी। उन्होंने दिएगो से पचीसों वार कहा, राजदूत का आयोजन कदापि सफल नहीं होगा। संत फ्रांसिस को इस प्रकार निराश देख कर दिएगे को आश्चर्य होता था। उन्होंने संत से अपने कथन को स्पष्ट करने का आग्रह किया। लेकिन सन्त इतना ही कहते, आप देखिएगा।

सिंगापुर के संकरे मुहाने से होकर सान्ता क्रूस को बड़ी धीमी गति से चलना पड़ा। रात को उसे अपनी यात्रा वंद कर देनी पड़ती थी, क्योंकि जहाज बड़ा था और पानी कम। थोड़ी-सी असावधानी से जहाज कभी भी रेत में अटक सकता था। लेकिन सन्त फ्रांसिस को भारत पहुंचने की जल्दीबाजी थी। यदि रास्ते में अधिक देर हो गई, तो मलक्का पहुंचने के लिए पहले ही भारत का जहाज खुल जाएगा। अतः फ्रांसिस ने जापानी अन्तोनियो को एक विना पाल की नाव पर पेरेज़ के पास भेजा। प्रभु जयंती उसके दूसरे ही दिन पड़ती थी। पत्र में उन्होंने पेरेज, जहाज के कप्तान से निवेदन कर जहाज को उनके आने तक रोक रखने की अर्ज की। २७वां दिसम्वर तक उन्हें मलक्का पहुंचने की आशा थी। उन्होंने अपनी यात्रा का प्रवंध करने को पेरेज़ से कहा। मलक्का के बंदरगाह में गौलेगौ नामक पुर्तगाली जहाज पाल ताने खड़ा था। फ्रांसिस का

पत्र पाकर जहाज के कप्तान अन्तोनियो परेरा के पास दौड़े। संत फ्रांसिस के आने और अपने साथ भारत लौटने की खबर पाकर अन्तोनियो प्रसन्न हो उठे। १५५२ के नववर्ष के दिन उनका जहाज संत फ्रांसिस को लिए वंग सागर की ओर चला। हिन्द महासागर से होता कन्याकुमारी का चक्कर लगाता हुआ वह जनवरी की चौबीस तारीख को कोचिन वंदर में लगा। यात्रा सुगम और शान्तिपूर्ण थी।

फ्रांसिस के आने की खबर सुन सारा कोचिन उनके स्वागत-गान से गूंज उठा। पुर्त्तगाली राज्यपाल दौन अलफोंसो द नारोन्या भी उस समय कोचिन ही में थे। उन्होंने संत फ्रांसिस की वड़ी प्रशंसा सुनी थी, लेकिन अब तक उनसे मुलाकात नहीं हुई थी। उन्होंने संत का हार्दिक स्वागत किया। नगर में स्वागत की होड़ मच गई, जिसके कारण संत को वड़ी परेशानी उठानी पड़ी। आवश्यक कामों को करना भी मुश्किल हो गया। दो वर्षों के वाद वे भारत लौट रहे थे, इसके बीच उन्हें भारत की कोई खबर नहीं मिली थी। इन दो वर्षों के पत्र उनको एक साथ मलक्का में मिले थे, उनका उत्तर लिखना वहुत जरूरी था और यूरोप जानेवाले जहाज कोचिन से खुलने पर ही थे।

दो हृदयों की प्रेमधारा

संत इनीगो के नाम उन्होंने जो पत्र लिखा, वह दो हृदयों से उमड़ती प्रेम-धारा का कलकल निनाद है। १५४९ में ही सन्त इनीगो ने फ्रांसिस को भारत का प्रदेशाध्यक्ष नियुक्त किया था। तब से वह पत्र पेरेज के साथ मलक्का में ही पड़ा था। उस पत्र के साथ संत इनीगो का व्यक्तिगत पत्र भी था। उन्होंने उस पत्र के अंत में लिखा था, "संपूर्ण आपका, जिसे आपको कभी भूलने की न शक्ति है, न संभावना।" इन शब्दों की ओर लक्ष्य करके फ्रांसिस ने लिखा, "मैंने सजल नयनों से उन्हें पढ़ा, बीते दिनों तथा उस प्रेम को याद करके, जो सदा आपके हृदय में मेरे प्रति रहता था और अब तक है, मैं छलछलाती आंखों से यह लिख रहा हूं।" प्रदेशाध्यक्ष जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर अपनी नियुक्ति के विषय में उन्होंने लिखा था, "मेरे कंधों पर जो जिम्मेवारी इस भूखंड में रहनेवाले

वंधुओं की रखी है, उस पर आप पवित्र उदारता के अनुसार पुनः विचार करें। ईश्वर की कृपा से इसके लिए मैं अपनी अयोग्यता का अनुभव करता हूँ। मैं यह आशा लिए चला था कि अपने समाज वंधुओं की निगरानी में रहूंगा और वे मेरी निगरानी में नहीं !" संत इनीगो ने अपने पत्र में फ्रांसिस से मिलने की उत्कट अभिलाषा प्रकट की थी। फ्रांसिस भी अपने आध्यात्मिक पिता से मिलने के लिए तड़प उठे। उनका यह पत्र पाते ही इनीगो ने उन्हें रोम बुला भेजा लेकिन यह संभव न था। १५५२ का आरंभ हो चुका था और इसके वीतते ही संत फ्रांसिस की आत्मा अपने प्रियतम से मिलने चली जाएगी। फ्रांसिस ने खीस्त सेवकोंकी मांग पुनः दुहराई, विशेषतः जापान के लिए। उनकी महान आत्मा में चीन जाने की जो इच्छा गहरी जड़ पकड़ चुकी थी, उन्होंने उसकी भी चर्चा इस पत्र में की।

उन्होंने यूरोपीय वंधुओं को जापान और उसके निवासियों का एक जीता-जागता शब्द चित्र लिख भेजा। अपने चिर मित्र सिमोन रोद्रिगेज के पत्र में उन्होंने खीस्तसेवकों की आवश्यकता पर प्रकाश डाला और उन्हें पूरब आने का निमंत्रण दिया। इस बार केवल भारत का निरीक्षण करने के लिए नहीं, वरन् उस रहस्यमय देश, चीन का भी भ्रमण करने के लिए। पुर्त्तगाल के राजा के नाम पत्र लिखते समय फ्रांसिस ने अपने हृदय की विशालता का परिचय दिया। भारत में पुर्त्तगाली अधिकारियों के चरित्र का जो अनुभव उन्हें हुआ था, उसके ठीक वितरीत मलक्का और जापान के अधिकारियों का व्यवहार था। उनकी उदारता तथा सहानुभूति से उनका रोम-रोम कृतज्ञ हो उठा था। फ्रांसिस का हृदय स्वच्छ जलाशय था जिसमें कोई भी प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई दे सकता था। उसमें न ईर्ष्या की काई थी, न प्रतिशोध का पंक। उनकी आंखें बगुलों में छिपे हंस को पहचान सकती थी। अमावस्या के अंधकार में टिमटिमाते जुगनू के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा और सम्मान जाग्रत हो उठता था। अपने अन्य पत्रों में उन्होंने भारत में पुर्त्तगाली अधिकारियों की भर्त्सना अवश्य की थी, लेकिन इस बार उन्होंने उन उदार अधिकारियों तथा नाविकों की प्रशंसा की, जिनसे उनको मलक्का तथा जापान में प्रचुर सहायता मिली थी और उनके लिए पुर्त्त-गाली राजा को धन्यवाद दिया।

कट्टर आज्ञाकारी

फ्रांसिस ने पांचवां पत्र पौल कामरीनो के नाम लिखा था। पौल संत की अनुपस्थिति में भारत के उपाध्यक्ष थे। यह पत्र संत के दयामय स्वभाव के विपरीत दीखता है। दया और कर्त्तव्य के युद्ध में कर्त्तव्य को ही विजयी होना उचित है। पत्र पाते ही उन्होंने मानुएल मोराइस और फ्रांसिस गोंसालवेज को येसुसमाज से हटा कर गोआ के धर्माध्यक्ष के हवाले कर देने की आज्ञा दी, यहां तक कि उनके लिए संत पौल गुरुकुल का भी द्वार बंद कर देने को कहा। यह आज्ञा कठोर अवश्य थी, लेकिन याद रखना चाहिए कि येसुसमाज का मुख्य व्रत आज्ञाकारिता है। संत फ्रांसिस स्वयं इस व्रत का मूल्य समझते थे। यूरोप से प्रस्थान करते समय उन्होंने अपने अधिनायक इनीगो से आग्रह किया था कि वे भारत में प्रचार की विधि लिख भेजें।

येसुसमाज के संस्थापक संत इनीगो के विचार से वे पूर्ण परिचित थे। समाज के जन्मकाल से ही वे उनके साथ रहे थे, उन्हीं के विचारों के अनुसार उन्होंने अपने जीवन का निर्माण किया था। आज्ञाकारिता उनकी नस-नस में भरी थी। और उनकी हार्दिक इच्छा थी कि अन्य येसुसमाजी भी अपने संस्थापक के उन विचारों से उसी प्रकार प्रभावित हों। इस महान् व्रत की अवज्ञा करनेवालों के लिए उनके हृदय में दया नहीं थी। उन्होंने मोराइस और गोंसालवेज को वीर बेइरा के सहायतार्थ मलुक्का जाने की आज्ञा दी थी। एक वर्ष तक मृत्यु को लगातार अपनी ओर मुंह खोले देख कर उनकी हिम्मत टूट गई और बेइरा की अनुमति के बिना ही वे उन्हें छोड़ कर लौट गए। संत फ्रांसिस के विचार में ऐसे निर्बल हृदयों के लिए सैनिक येसुसमाज में जगह नहीं थी। अध्यक्ष की आज्ञा पाते ही दुनिया के किसी भी कोने में अविलंब जाना येसुसमाजियों का परम कर्त्तव्य है। इन बेचारों को समाज से निकालते समय फ्रांसिस का हृदय कराह उठा। लेकिन कर्त्तव्य के सामने उन्हें हृदय मसोस कर झुक जाना ही पड़ा। पत्र में उन्होंने लिखा, "उन्हें बर्दाश्त करते समय मुझे असीम दुःख हो रहा है। लेकिन इससे भी अधिक डर मुझे इस बात से होता है कि बर्दाश्त के योग्य केवल वे ही नहीं हैं।" प्रदेशाध्यक्ष नियुक्त होने के बाद संत फ्रांसिस का पहला काम यही था।

भारत की स्थिति में वहुत फेरवदल हो चुका था इन दो वर्षों में। मीन-तट के ख्रीस्त सेवकों की सफलता तथा उत्साह देखकर उनका हृदय गद्‌गद् हो उठा। उनके प्यारे परिया ख्रीस्तीयों की सेवा में उत्साही येसुसामाजी जुटे हुए थे। तुतिकोरिन भी वदल गया था। नए पुर्त्तगाली कप्तान पूर्ववर्ती कप्तानों से भिन्न थे। ओरमुज में गास्पार वेरजे अपनी सेवा के कारण पुर्त्तगालियों, मुसलमानों तथा अन्य सव लोगों की श्रद्धा के पात्र हो गए थे। कोइलोन और कोचिन भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहे थे। मलक्का तथा मलुक्का की भी हालत अच्छी ही थी। मोराइस और गोंसालवेज्ञ के पलायन तथा रेवेरो के देहान्त के वाद वीर वेइरा अपने सामर्थ्य से अधिक परिश्रम कर रहे थे। लेकिन हर्ष के इस उज्ज्वल आकाश में भी विषाद की रेखा थी। एक व्यक्ति फ्रांसिस के कोमल हृदय को टूक-टूक कर रहा था, वे थे अन्तोनियो गोमेज, सन्त पौल गुरुकुल के अध्यक्ष एक सफल वक्ता, लेकिन असफल अध्यक्ष।

गोमेज्ञ की समस्या

संत फ्रांसिस के भारत से जापान के लिए प्रस्थान करते ही गोमेज्ञ ने अपनी पुरानी चाल शुरू कर दी थी। फ्रांसिस ने उनके अधिकार को संत पौल गुरुकुल के भीतर ही वांध रखा था, अन्य अधिकार पौल कामरीनो को दिए थे। लेकिन विनम्र और सीधे-सादे कामरीनो से सव अधिकार आत्मसात् करते देर न लगी। धीरे-धीरे उन्होंने पूरी वागडोर अपने हाथ में ले ली और इसका प्रयोग मनमाने ढंग से करने लगे। उनके हृदय में अव तक कोईम्ब्रा का चित्र धूमिल होने न पाया था। वे संत पौल को पुर्त्तगाली संस्था में परिणत करने की धुन में थे। गैर पुर्त्तगालियों को वहां से निकाल कर केवल पुर्त्तगालियों को वहां रख लिया था। येसुसमाज के लिए भी उन्होंने वहुत से पुर्त्तगालियों को, विना पूरी जांच किए ही भर्ती कर लिया था। उनके ऐसे उद्दंड व्यवहार से अन्य येसुसमाजी क्षुब्ध हो उठे थे। उनके कार्य संत पौल के संस्थापकों द्वारा वनाए नियमों के एकदम विपरीत। यह देख कर राज्यपाल अलफोंसों द नरोन्या को भी हस्तक्षेप करना पड़ा, उन्होंने गरपुर्त्तगाली विद्यार्थियों को वापस वुलाने की आज्ञा दी जिससे गोमेज के स्वाभिमान को भारी ठेस लगी। आवेश में आकर वे अध्यक्ष के पद से इस्तिफा दे श्री लंका चले गए।

लेकिन यहीं गोमेज-कांड का अंत नहीं हुआ। कोचिन में दयासंघ का एक गिरजाघर था। वहीं गोमेज एक विद्यालय खोलना चाहते थे। धर्माध्यक्ष को विवश कर उन्होंने दयासंघ के गिरजाघर पर अधिकार जमा लिया, जिससे दयासंघ के सदस्यों तथा कोचिन के नागरिकों में असंतोष फैल गया। कोचिन में जब इस अन्याय की खबर संत फ्रांसिस को मिली, तो उन्होंने तुरंत उक्त गिरजाघर को उसके हकदारों को लौटा दिया और यह भी लिख कर दे दिया कि येसुसमाज का उस पर किसी प्रकार का दावा नहीं है, यहां तक कि जब कभी वे वहां मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाने अथवा धर्मशिक्षा देने आवें, तब किसी भी दर्शनार्थी के समान वे भी अनुमति के बिना अन्दर नहीं जा सकते। गोमेज के बिगाड़े काम को यों बनाकर फरवरी के अंत में संत फ्रांसिस गोआ की ओर बढ़े।

गोमेज के लंका-गमन के बाद संत पौल के येसुसमाजियों ने मिलकर पौल कामरीनो को अपना अध्यक्ष चुना। इसके कुछ ही दिनों बाद संत पौल के नए अध्यक्ष मेलकियोर नूनेस बारेटो पुर्त्तगाल से गोआ पहुंचे। संत पौल के पुरोहितों ने इस नवागंतुक के कंधों पर संत पौल का शासनभार छोड़ना उचित न समझा। उनके विचार में संत फ्रांसिस का भी यही मत था। गोआ में फ्रांसिस को गास्पार बेरजे, बाल्थाजार गागो और देमिनिक कारवाल्यो से भेंट हुई। इन तीनों को उन्होंने जापान बुलाया था। लेकिन पत्र देर से पहुंचने के कारण उन्हें जहाज न मिल सका था। बेरज़े ओरमुज से बहुत से उपहार लेकर आए थे और अब तक जापान जानेवाले जहाज की राह देख रहे थे। जापान से लौट कर वे रोम और पुर्त्तगाल जाकर उस विचित्र देश की चर्चा करना चाहते थे, लेकिन उनकी यह अभिलाषा कभी पूरी न हो सकी। संत फ्रांसिस ने उन्हें संत पौल के अधिष्ठाता के रूप में प्रतिष्ठित किया और बारेटो को अनुभव प्राप्त करने के लिए बसीन भेजा। उद्दंड गोमेज को उन्होंने डिउ के ख्रीस्तीयों की देखरेख करने को कहा। वे गोमेज का मूल्य आंक चुके थे। उन्हें किसी उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रखना केवल उन्हीं के लिए नहीं, उनके अधीनस्थों के लिए भी खतरनाक होता। फ्रांसिस यथासंभव अपने कर्त्तव्य में चूकना नहीं चाहते थे। वे जानते थे कि अन्तो-

नियो गोमेज सिमोन रोद्रिगेज के लाड़ले हैं। और फ्रांसिस के इस फेरबदल से सिमोन अवश्य असंतुष्ट होंगे; लेकिन रोद्रिगेज को खुश रखना उनका काम नहीं था; यहां तो भारत के येसुसमाजियों के संचालन और कल्याण की बात थी।

गोमेज को अपने व्रत का पालन करना होगा, इस पर सन्त फ्रांसिस सुमेरु जैसे अटल रहे। यदि अन्तोनियो ने इसमें आगापीछा किया तो उसका भाग्य भी वही होगा जो मोराइस और गोंनसालवेज का हुआ था। इसी आशय का एक मुहरबंद पत्र उन्होंने गोआ के अधिष्ठाता को दिया। इसके साथ एक खुला पत्र भी था, जिसमें उन्होंने यह आदेश दिया था कि यदि एक वर्ष के अन्दर किसी भी कारण गोमेज ने डिउ के बाहर कदम रखा, तो वह मुहरबंद पत्र उसे दे दिया जाए। लेकिन फ्रांसिस नहीं चाहते थे कि गोमेज पुर्त्तगाल लौट जाएं। अतएव उन्होंने बेरजे को आदेश दिया कि उस हालत में उन्हें गोआ के धर्माध्यक्ष के सुपुर्द कर दें। अन्तोनियो के लिए यह असह्य था। इसका उल्लंघन कर वे रोम की ओर अपनी सफाई देने चले, किन्तु उद्दंड सागर के उत्तुंग लहरों ने उनका रास्ता रोक लिया। उनके साथ ही वह जहाज जल-समाधि को प्राप्त हो गया।

संत पौल में

संत पौल में फ्रांसिस के जो दिन बीते, वे उनके तथा उनके बंधुओं के लिए बड़े सुख के दिन थे। संत की संगति में गुरुकुल के बंधुओं को प्रेरणा मिलती रहती थी। और संत अपने भाइयों के बीच सच्चे आनंद का अनुभव करते थे। आठों याम उनका ध्यान ईश्वर पर लगा रहता। ऐसे धर्मवीर के लिए उन लोगों की संगति के बाहर कहां आनंद मिल सकता, जो सदा ईश्वर के कार्यों में निरत रहते हैं। ईश्वर पर उनकी आशा केन्द्रित थी और उनके बंधुओं ने भी तो उसी ईश्वर की सेवा का व्रत लिया था। फ्रांसिस की संगति का जो प्रभाव बंधुओं पर पड़ रहा था, उसकी झांकी हम तत्कालीन नवसिख तेसेइरा के फतवे में पा सकते हैं, "उनके मुखमंडल पर एक अलौकिक मुस्कान सदा खेलती रहती थी. . . उनकी आंखें स्वर्ग की ओर लगी रहतीं. . . उनका चेहरा ईश्वर के प्रेम से ऐसा देदीप्यमान रहता कि दूसरे भी उससे चमक उठते. . . जब संत पौल के बंधु दुखित या मलिनमुख होते तो, उनके पास जाते। बीमारों के प्रति उनका विशेष दया भाव

रहता ।" तेसेइरा की उम्र उस समय केवल सोलह वर्षकी थी । उसकी निर्मल आत्मा का प्रतिरूप उसकी बाल मुखाकृति पर स्पष्ट था । इस किशोर येसुसमाजी के लिए संत फ्रांसिस के हृदय में विशेष स्थान था ।

संत फ्रांसिस की दीनता, प्रेमभाव तथा प्रार्थना-प्रवृत्ति से सन्त पौल का प्रत्येक सदस्य प्रभावित हुआ । वे अपने भाइयों से अपनी त्रुटियों के विषय में पूछते, उनके आचरण पर ध्यान देते रहने का उनसे आग्रह करते । उनका विश्वास था कि यद्यपि त्रुटियां हमारे अंदर रहती हैं, उनका ज्ञान बहुधा दूसरों को ही होता है। अत: वे ही हमारी अधिक सहायता कर सकते हैं । अपनी कमजोरियों पर विचार कर कोई भी फूल नहीं उठता और उस आनंद की संभावना तो और भी कम हो जाती है, जब वह अपने दुर्गुणों का वर्णन दूसरों के मुंह से सुनता है । फ्रांसिस जानते थे कि अहं पर विजय पाना ही अपने को सिद्धि की ओर अग्रसर करना है ।

संत फ्रांसिस के प्रेमभाव से सभी परिचित थे । उनके हृदय में चन्द इने-गिने लोगों के लिए ही स्थान नहीं था, वह सबों के लिए खुला रहता था, सबों से उनको प्यार था, कोई उससे बचा नहीं था । फ्रांसिस में वसुधैव कुटुम्बकम् वाला सिद्धांत पूर्णरूपेण चरितार्थ होता था । जो भी उनके पास आता, वही सोचता कि संत फ्रांसिस का प्रेम उसी को सबसे अधिक मात्रा में प्राप्त है ।

संत की प्रार्थना-प्रवृत्ति तो हम पहले से ही देखते आए हैं । ज्यों-ज्यों वे अपनी जीवन-संध्या की ओर बढ़ते जा रहे थे, ईश्वर में उनकी तन्मयता और स्पष्ट हो रही थी । अपने एक पत्र में मेल्कियोर नुनेज़ ने लिखा है : वे स्वर्ग में रहते हैं ।' यह सन्त की प्रार्थना-प्रवृत्ति का ही फल था । कोई भी जगह ऐसी न थी जहां उन्हें ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव नहीं होता था । दिन भर दूसरों की सेवा करने या उनकी करुण कहानी सुनने के कारण उन्हें विधिवत् प्रार्थना करने को समय नहीं मिल पाता था, वे रात के एकान्त में अपने प्रभु से प्रेमालाप करते ।

संत की शासन-प्रणाली

संत फ्रांसिस की शासन-प्रणाली भी उल्लेखनीय है । उनका अधिक समय तो एक जगह से दूसरी जगह जाने में ही बीत जाता था । जापान से लौटने के पहले तक वे भारत स्थित येसुसमाजियों के नियंता थे ही, लेकिन अनौपचारिक

रूपसे । अतएव शासक का रूप उनके व्यवहार में निखर नहीं पाया था । वे जो करना चाहते थे, परिस्थिति के कारण वह भी नहीं कर पाते थे, जैसे हम अन्तोनियो गोमेज़ के संबंध में देख चुके हैं । जापान से लौटने पर जो तीन-चार मास उन्होंने भारत में बिताए, उन्हीं में उनकी शासन-प्रणाली पूरी प्रतिभा के साथ दृष्टिगोचर होती है । उनका शासन दृढ़ अवश्य था जैसे मोराइस, गोसाल्वेज़ और गोमेज के दुर्भाग्य से स्पष्ट है । लेकिन उनकी दृढ़ता में भी प्रेम और दया का सामंजस्य था । किसी भी कुशल शासक में इन दोनों की आवश्यकता अनिवार्य है । पहले के अभाव में शासनकार्य असफल रह जाता है । और दूसरे की कमी से शासक क्रूर तानाशाह बन जाता है । यहां येसुसमाज के प्रति प्रेम और विश्वस्तता का प्रश्न उठता, वहां संत फ्रांसिस शिला-खंड की भांति अटल बने रहते । जहां सेवा तथा परोपकार की बात आती, वहां उनका हृदय माता की तरह कोमल और दयार्द्र बन जाता ।

संत फ्रांसिस को भारत में अब और अधिक दिन नहीं रहना था । चीन उनको बुला रहा था, और कौन जानता था कि उधर से लौट कर आएंगे या नहीं और आवेंगे तो कब तक । येसुसमाज के भारतीय भूखंड का भार उन्होंने अभी तक अपने कंधों पर लिया था । जाने के पहले कुछ उपशासक की व्यवस्था करना अत्यावश्यक था । वेरजे के लौट आने से ओरमुज में कोई येसुसमाजी नहीं रह गया था, गुन्दीसाल्वो रोद्रिगेज को सन्त फ्रांसिस ने वेरज़े की जगह भेजा और अपनी अनुपस्थिति में उन्होंने भारत स्थित येसुसमाजियों का अध्यक्ष नियुक्त किया । मीन-तट की सुव्यवस्था उन्होंने पहले ही कर दी थी । समृद्धिशाली बसीन का महत्त्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा था । वहां भी एक कुशल कार्यकर्त्ता की आवश्यकता थी । उसके लिए उन्होंने मेल्कियोर नूनेज़ बारेटो को चुना था । इन शासकों के पथ-प्रदर्शन के लिए उन्होंने कुछ उपदेश और परामर्श भी लिख छोड़े । ये परामर्श क्या हैं, भारत में बिताए दस वर्षों के अनुभव का ज्ञान-भंडार है जिसमें विद्वत्ता, व्यवहारिकता और दूरदर्शिता का अनुपम सामंजस्य है ।

बसीन से काफी आमदनी होती थी, इसका सीधा जरिया था कर वसूली । बारेटो को कर वसूली शोभा नहीं देती थी, इसलिए संत फ्रांसिस ने उन्हें इस घृणास्पद कार्य को किसी ईमानदार पुरुष पर छोड़ देने का आदेश दिया । आध्यात्मिक

कार्य जिनका पेशा है, जिसके लिए वे इतनी लंबी तैयारी करते हैं, उन्हें अपना समय खाता-वही में विताना अपनी पूर्व अर्जित विद्या तथा अनुभव का उपहास करना है। फिर दानशीलता के विना धनोपार्जन से क्या लाभ। वसीन की तरह गोआ की आर्थिक दशा चिन्ता से मुक्त न थी। वेरजे को आटा-दाल की समस्या हल करनी पड़ती थी। इस हालत में अपनी जेव देखे विना दूसरों के प्रति अति उदार वन जाना भी वुद्धिमानी नहीं। वेरज़े अकेले नहीं थे, उनके ऊपर गोआ वंधुओं की जीविका का भार था और संत पौल गुरुकुल भी ऋण से दवा जा रहा था। उस ऋण का भुगतान किए विना असंख्य असहायों तथा दरिद्रों की मदद करना उचित नहीं। जहां तक हो सके, खर्च में कमी करना ही सवों का ध्येय होना चाहिए। यदि संस्था के सदस्यों के कपड़े धोने के लिए वेरजे एक ऐसे धोवी का प्रवंध करते, जो गुरुकुल में ही रहा करता, तो इसका आर्थिक वोझ कुछ हल्का हो जाता। वेरजे के कंधों पर शारीरिक आवश्यकताओं से भी अधिक भारी उत्तरदायित्व था। वे भारत स्थित येसुसमाजियों के अध्यक्ष नियुक्त हुए हैं, अपने शासन-कौशल द्वारा इस समाज की उन्नति पर भी उन्हें विशेष ध्यान देना पड़ेगा। कोई भी संस्था अपने विधान पर चले बिना अपनी लक्ष्यसिद्धि में सफल नहीं हो सकता। येसुसमाज भी इस सिद्धांत के अधीन है, जैसे पवित्र गिरजा का अन्य कोई समाज। हरएक धर्मसमाज को अपनी लक्ष्यसिद्धि का विशेष साधन होता है। येसुसमाज का विशेष साधन है आज्ञाकारिता। अतः अवज्ञाकारी व्यक्ति इस समाज के योग्य नहीं हो सकते। यदि दुर्भाग्यवश कोई सदस्य अवज्ञाकारी निकल गया तो उसका निष्कासन अनिवार्य है। समाज की वृद्धि नए सदस्यों पर ही निर्भर करती है। फलतः उनके चुनाव में बड़ी सावधानी की जरूरत होगी; साधारणतः कच्ची उम्रवालों तथा मंदवुद्धि व्यक्तियों को भर्ती करना समाज की जड़ खोदना होगा।

अधीर यात्री

संत फ्रांसिस के अनेक जीवनी लेखकों ने अपने नायक को अधीर यात्री की संज्ञा दी है। यह सच है कि उनके श्रमकाल के दस वर्षों का वड़ा भाग यात्रा में ही वीता है। लेकिन यह समय का तकाजा था, जो अनुसूनी नहीं किया जा

सकता था। वे भलीभांति समझते थे कि एक जगह रहकर ही सुव्यवस्थता शासन चलाया जा सकता है। उन्होंने वेरजे को तीन वर्षों के लिए गोआ के बाहर क़दम नहीं उठाने की कड़ी आज्ञा दी। वेरज़े के उत्तराधिकारी का भी प्रबंध उन्होंने कर दिया था। यदि उनके चीन से लौटने के पूर्व ही वेरजे इस असार संसार से सिधार गए, तो शासन-सूत्र लंका स्थित मानुएल मोराइस के हाथ में जाएगा। और मोराइस के बाद बारेटो का नाम आएगा और यदि यूरोप से कोई इस पद के लिए आ गया तो उसकी बहाली कर देनी होगी। संत अनिश्चित संयोग पर अपने प्यारे भारत को छोड़ना नहीं चाहते थे।

धर्मोपदेशकों को संत के निर्देश

धर्मोपदेश के विषय में भी संत फ्रांसिस ने अपने उपशासकों को लाभप्रद परामर्श दिए। इस कार्य के लिए सबों में दिलचस्पी और प्रेम होना चाहिए। और सफल उपदेशक बनने के लिए सबों को प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन सफल उपदेशक या आध्यात्मिक जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। दूसरों को धर्मज्ञान के प्रकाश में लाते समय, वह स्वयं अहंकार और अभिमान के अंधकार में भटक सकता है। धर्मोपदेशक को अपने कार्य में सफल बनने की कोशिश करते हुए, दीनता का भी सतत अभ्यास करना चाहिए। यदि हमारे कार्य का फल अच्छा हो, तो उसका श्रेय ईश्वर को देना चाहिए। ऐसे महान् कार्य को सम्पन्न करते समय हमें अपने श्रोताओं का ध्यान और विचार करना चाहिए कि ईश्वर की कृपा से ही वे हमारी बातें श्रद्धापूर्वक सुन रहे हैं और उन्हीं की कृपा से हम सफल उपदेशक बन सकते हैं। इस कार्य को दीन हृदय से करन के लिए, इस बात पर भी विचार करना लाभदायक है कि नरक कितने सफल उपदेशकों से भरा पड़ा है।

फ्रांसिस ने एक बड़े मार्के की बात बताई। पारिवारिक कठिनाइयों से सबका पाला पड़ता है। कभी-कभी ऐसा समय आता है कि पति-पत्नी में झगड़ा तकरार हो जाता है। ऐसे अवसर पर आध्यात्मिक निर्देशक को सावधानी से काम लेना चाहिए। "सदा पति-पत्नी में मेल-मिलाप रखने की चेष्टा करते रहिए...यदि बहुत से लोग इकट्ठे हों तो झगड़े का दोष पुरुष पर ही मत

लगाइए, यद्यपि वात ऐसी ही क्यों न हो। लेकिन उसे अपना दोष स्वीकार करने के लिए प्यार और विनय से समझाइए।"

प्रेम, दया और उदारता, ये ही संत फ्रांसिस के मूल मंत्र थे। भारत के लोगों से आप बलात् कुछ भी नहीं करा सकते। लेकिन आग्रह द्वारा वे सब कुछ करेंगे। अस्पतालों में रोगियों को देखने जाना, कैद में वंदियों को सान्त्वना देना, ये केवल खीस्त सेवकों का नहीं, सभी आम खीस्तीयों का गुण है। इसके विना कोई सच्चा खीस्तीय कहलाने के योग्य नहीं हो सकता। बारेटो को वसीन में धन की कमी नहीं थी। जो धनी हैं उनका फर्ज होता है कि अपने गरीव भाइयों की सहायता करें। मीनका तट, गोआ, कोइलोन, आदि के खीस्तीय वसीन के समान भाग्यशाली नहीं थे। उनकी सेवा करना बारेटो का कर्त्तव्य है। उन्हीं का नहीं, उन्हें जापान और मलुक्का के निवासियों का भी हाथ बंटाते रहना चाहिए। संत फ्रांसिस जापान और मलुक्का के खीस्त सेवकों की विपदाएं सह आए थे। उन्हें पर्याप्त भोजन भी प्राप्त नहीं हो पाता था। उनके पास खाद्यान्न भेजते रहने की सलाह उन्होंने वेरजे को दी। प्रेम और उदारता के वशीभूत होकर ही उन्होंने अलफौंसो सिप्रियन जैसे तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध को डांटा भी। सिप्रियन और सां थोमे के विकर में किसी कारणवश कुछ मनमुटाव चल रहा था। फ्रांसिस ने उस वयोवृद्ध को विकर से नम्रतापूर्वक क्षमा मांगने को वाध्य किया। वे जानते थे कि इस आज्ञा से सिप्रियन के स्वाभिमान को ठेस लगेगी। उन्हें समझाते हुए लिखा, "यदि आप को मालूम होता कि कैसे प्रेम से प्रेरित होकर मैं यह सब आपको लिख रहा हूं, तो आप रात या दिन कभी भी मुझे अपने हृदय से नहीं विसारते।"

वे स्पेनियों की प्रवृति से भी पूर्ण परिचित थे। स्पेनी नाविक मेक्सिको होकर जापान और चीन का रास्ता खोजने में प्रयत्नशील थे। वे पुर्त्तगालियों के समान व्यापार के अभिलाषी नहीं थे, उन्हें साम्राज्य की भूख थी। आक्रमण-कारियों में विनम्रता और प्यार कहां? इन दो गुणों के विना किसी भी विदेशी को चीन या जापान जैसे देशों में दो दिन भी टिकना असंभव था। स्पेनी नाविक अपनी जान की वाजी लगाकर अपने कार्य में सफल होना चाहते थे और फ्रांसिस उन्हें उस खतरे से बचाने के लिए व्यग्र थे। उन्होंने अपने चिर मित्र सिमोन

रोद्रिगेज से निवेदन किया कि आप पुर्त्तगाली राजा के जरिए स्पेनी राजा को इस परिस्थिति से अवगत करा दें।

भारत के शासन की वागडोर सुयोग्य हाथों में सौंप, छोटी से-छोटी वात का प्रवंध कर संत फ्रांसिस अपने अंतिम अभियान के लिए तैयार हुए। प्रस्थान के कुछ दिन पहले से ही वे अपने बंधुओं को रात के समय उपदेश देने लगे। उनके शब्दों में ऐसी शील तथा शक्ति थी कि वे सबों के हृदय प्रज्ज्वलित कर देते, उन्हें नया बना देते। उनके अंतिम उपदेश में एक ही तार वार-वार झंकृत हो रहा था, आज्ञाकारिता।

ग्यारहवां परिच्छेद

चीनी अभियान

पुण्य वृहस्पतिवार के दोपहर को अंतिम मिलन का समय आया। गिरजा में परम प्रभु की पावन देह की आराधना हो रही थी। सब के सब अपने प्रिय पिता संत फ्रांसिस के लिए प्रार्थना करते थे, जो चीन का बंद दरवाजा खटखटाने के लिए अपने प्रियजनों तथा भारत भूमि से विदा हो रहे थे। संत पौल का हर एक प्राणी फ्रांसिस के साथ चलने को तैयार था। लेकिन इने-गिने भाग्यशाली लोगों को ही जहाज तक उनका साथ देने का अवसर मिला। सबों के दिल में केवल एक ही प्रार्थना थी, प्रभु वह दिन निकट आवे, जब सबों को अपने प्रिय पिता फ्रांसिस के साथ चीन में प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त हो। अभी तक यह संभव नहीं था, क्योंकि भारत को उनकी आवश्यकता थी।

संत फ्रांसिस के साथ कुल आठ आदमी थे। बुगो के राजदूत ने खीस्तमत के सिद्धांतों से प्रभावित होकर बपतिस्मा ग्रहण कर लिया था, अब वे लौरेन्जो परेरा कहलाते थे। संत फ्रांसिस ने जापान से लौटते समय जहाज पर ही उन्हें धर्मशिक्षा देना शुरू कर दिया था। परेरा के साथ पेद्रो द अलकासोवा और एदुआर्द द सिल्वा और आंजीरो के दो साथियों को संत फ्रांसिस जापान भेज रहे थे। अलकासोवा और द सिल्वा का अभी तक पुरोहिताभिषेक नहीं हुआ था। वे अपने साथ बालथाजार गागो, अलवारो फरेरा, चीनी अन्तोनियो और खीस्तोफोर को चीन ले जा रहे थे। फरेरा को अब तक अलकासोवा और द सिल्वा की तरह ही पुरोहित का पद नहीं मिला था। अन्तोनियो चीनी थे, लेकिन आठ साल से संत पौल में रहने के कारण उन्हें अपनी मातृभाषा का कुछ भी ज्ञान नहीं रह गया था। खीस्तोफोर मलयाली थे।

फ्रांसिस मलक्का से जापान के राजा के लिए जो कीमती उपहार लेते गए थे, उनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। अब वे जापान के किसी भी दाइमियो से

अत्यधिक महान, चीन के सम्राट से मिलन जा रहे थे। उपहारों की संख्या और कीमत पहले से कई गुणा अधिक थी। और मुंज से वेरजे द्वारा लाए कीमती कपड़े, मखमल, रेशम, कालीन और पवित्र वेदी की समस्त सामग्री वे अब चीन ले जा रहे थे। उन्हें पूरी आशा थी कि राजदरबार में पहुंच कर उन्हें ख्रीस्तयाग सम्पन्न करने का अधिकार अवश्य प्राप्त होगा।

चलते-चलाते संत फ्रांसिस अपने मित्र कोस्मस आनेस से मिलने गए। वृद्ध आनेस भी अपने अंतिम प्रस्थान की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने संत से पूछा, "अब हम फिर कब मिलेंगे?" संत फ्रांसिस ने उत्तर में कहा, "जोसेफात की घाटी में, अर्थात् संसार के अंतिम दिन।" क्या उन्हें ज्ञात था कि वे भारत से ही नहीं, इस संसार से सदा के लिए विदा होने पर हैं। उनके कार्यों से तो ऐसा ही आभास मिलता है।

प्रभु के पुनरुत्थान के पर्व दिन, सुखी गोआ से संत फ्रांसिस अपने आठ साथियों के संग चीन की ओर चल पड़े। कोच्चिन में उन्हें कुछ चिन्ताजनक समाचार मिले। पौल द वाल्ले की मृत्यु मीन-तट पर हो गई थी। हेनरी हेनरीकेस पहले ही भार से लदे थे, अब वाल्ले के देहावसान के बाद इनका भी कार्य उन्हीं को संभालना पड़ा। फ्रांसिस के प्यारे परिया लोगों को और भी ख्रीस्तसेवकों की आवश्यकता थी। फ्रांसिस ने आदेश दिया कि एक और येसुसमाजी को मीन-तट पर भेजें। कोलोन में लांसिलोट्ट अपने पचास विद्यार्थियों के साथ मिट्टी के घर में फूस की छप्पर के नीचे अभावग्रस्त जीवन बिता रहे थे। इस उत्साही लेकिन अस्वस्थ ख्रीस्तसेवक की अभावपूर्त्ति के लिए फ्रांसिस ने ओरमुज और बसीन जैसे धनी नगरों से धन की याचना की। लगभग अप्रैल की चौदहवीं तारीख को फ्रांसिस ने कोचिन स्थित अन्तोनियो एरेदिया को एक लिखित उपदेश भेजा, जिसमें उन्होंने सबों के साथ सद्भावना, सहृदयता तथा मित्रता बनाए रखने के महत्त्व पर जोर दिया, विशेषतः दया संघ के बंधुओं के साथ। उन्होंने आपस में एकमत होकर गरीबों की सहायता करते रहने का परामर्श दिया और सहायता इस प्रकार हो कि उन बेचारों के स्वाभिमान को ठेस न लगे। उत्साह तथा उदारता के साथ उनकी शारीरिक और आध्यात्मिक आवश्यकताएं पूरी करना येसुसमाजियों का कर्त्तव्य है।

श्री लंका के दक्षिण हिन्द महासागर से होता हुआ जब संत फ्रांसिस का जहाज बंगाल की खाड़ी में पहुंचा, तो उसे आंधियों का सामना करना पड़ा। लहरों के धक्कों से प्राण बचने की आशा न रही। नाविक जहाज को हल्का करने के अभिप्राय से माल-असबाब समुद्र में फेंकने लगे। मृत्यु को इतना समीप देख कर रणभूमि में वीरता दिखानेवाले पुर्त्तगाली सिपाही भी पत्तों की तरह कांपने लगे। उस जहाज पर फ्रांसिस ही ऐसे व्यक्ति थे जिनके चेहरे पर उस अशान्त वायुमंडल में भी शान्ति विराज रही थी। उन्हें मिट्टी के पुतले निर्बल मानव के बल पर विश्वास नहीं था, उनका जीवन-रक्षक स्वयं प्रकृति के सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर थे। जहाज के सब यात्री भयग्रस्त इधर-उधर कोनों में पड़े थे, कोई अपने भाग्य को कोसता था, कोई ईश्वर को फटकारता था। उनकी ऐसी हालत देख फ्रांसिस उन्हें उत्साहित करते हुए उनमें आशा का मंत्र फूंकते फिरते थे। लेकिन तूफान की भयंकरता जरा भी कम नहीं हुई। क्रोध से तिलमिलाती लहरें खूंखार शेर के समान जहाज पर झपटतीं। तब फ्रांसिस जहाज के ऊपरी भाग पर गए, अपनी जेब से पवित्र अवशेष निकाले और ईश्वर का नाम ले उन्हें समुद्र में फेंक दिया। जहाज की रक्षा के लिए उन्होंने ईश्वर की दुहाई दी और पुनः प्रार्थना में तल्लीन हो गए। ईश्वर ने अपने भक्त की प्रार्थना सुनी, जहाज पर झपटती लहरें शान्त हो गईं। यात्रियों के सूखे शरीर में प्राण लौट आए और उनके निराश हृदयों में आशा का संचार हुआ।

शंका और पराजय

बंग सागर की विकराल लहरें तो शान्त हो गईं, लेकिन सन्त फ्रांसिस का चित्त शान्त न हुआ। उनके हृदय में उथल-पुथल मचा रह गया उस एक मास की समुद्र यात्रा भर, जिस पर मानों प्रार्थनाओं का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ सका। ६ मास पूर्व जब वे दिएगो परेरा के साथ सांचन से मलक्का लौट रहे थे, तभी उन्हें पहली बार पराजय का पूर्वाभास मिला। उन्होंने परेरा को सुना कर इसकी ओर संकेत भी किया था। अब दिएगो की नियुक्ति राजदूत के पद पर हो चुकी थी। इसका प्रमाणपत्र और बहुमूल्य उपहार ले संत अपनी महायात्रा शुरू कर रहे थे। पुनः वह शंका जाग उठी, पराजय का डर उन्हें फिर घेरने लगा। उठते-बैठते, सोते-जागते, सर्वत्र उन्हें भवितव्य का हाहाकार सुनाई देने लगा।

संत फ्रांसिस के मलक्का आने पर नगर के कप्तान दौन पेद्रो, उनके भाई मलक्का सागर के महा कप्तान आलवारो द गामा और पेरेज़ ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उस समय दिएगो परेरा वहां उपस्थित न थे। वे अपनी चीन यात्रा के लिए पर्याप्त सामान बटोरने जावा गए थे। एक सप्ताह के अन्दर ही एक जहाज चीन के लिए रवाना हो गया और संत फ्रांसिस ने अपनी जापान मंडली को इसी पर विदा कर दिया। अपने पहले के आयोजन में कुछ फेर-फार करना पड़ा। उन्होंने बालथजार गागो को चीन न भेज कर जापान भेजा। यामागूची में उनकी सख्त जरूरत थी, जहां तोरेस और फर्नान्दिस अपने कठिन परिश्रम द्वारा उनके लगाए वृक्ष सींच रहे थे। परेरा के इन्तजार में संत फ्रांसिस मलक्का ठहरे रहे। तब तक नगर में गरीबों तथा मरीजों की सेवा का अच्छा अवसर मिला। मलक्का में महामारी फैली हुई थी जिससे बड़ी तादाद में लोग इस संसार से कूच कर रहे थे। उसका रूप इतना भीषण था कि बंदरगाह में लगे जहाज के नाविक भी इसकी चपेट में पड़ कर कालकवलित होने लगे। अस्पताल में तिल रखने की जगह न थी, रोगियों के लिए जहाजों पर ही प्रबंध करना पड़ा। मई की चिलचिलाती धूप में ही सन्त फ्रांसिस रोगियों की सेवा में नगर का चक्कर काटते और अपनी सुमंत्र-णाओं से उन्हें अंतिम यात्रा के लिए तैयार करते रहे। महामारी का प्रकोप इतना विकराल था कि अथक परिश्रम करने पर भी एक ही जहाज पर तीस से अधिक रोगी चल बसे।

दिएगो परेरा जब जावा से चीन के राजा के लिए अमूल्य धनराशि लगाकर तरह-तरह के उपहार लिए मलक्का लौटे, तो संत फ्रांसिस की शंका का आधार प्रगट होने लगा। परेरा की चीन-यात्रा में अनेकों प्रकार की बाधाएं उत्पन्न होने लगीं। संत फ्रांसिस के अंतरंग मित्र और नाविक शिरोमणि वास्को द गामा के सुपुत्र, दौन पेद्रो द सिल्वा की अवधि समाप्त हो चुकी थी। उनकी जगह उनका छोटा भाई दौन आलवारो द अताइदे दो ही तीन महीनों में अपने भाई से कप्तान का पद ग्रहण करनेवाले थे। इस बीच वे मलक्का सागर के महाकप्तान के पद पर नियुक्त किए गए थे। महाकप्तान के अधिकार के अधीन

वे ही जहाज होते, जो मलक्का से छूटते थे। लेकिन ऐसा क्षुद्र अधिकार भी संत-फ्रांसिस की योजना को असफल करने को पर्याप्त था।

धैर्य की कसौटी

आल्वारो का स्वभाव उनके अग्रज से भिन्न था। पेद्रो के पास तो अधिक धन नहीं था, लेकिन उनका हृदय धनी था। उनकी उदारता की प्रशंसा करते हुए संत फ्रांसिस ने अपने एक पत्र में लिखा है, "मैंने यूरोप से आने पर मलक्का के कप्तान दौन पेद्रो के समान उदार हृदय कहीं नहीं देखा है।" लेकिन उनका अनुज आल्वारो उनसे कितना भिन्न था। जहां एक ओर वास्को द गामा के सुपुत्र दौन पेद्रो का हृदय उदारता से फूल रहा था, वहां उसी योग्य पिता के अयोग्य पुत्र आल्वारो का हृदय ईर्ष्या की दहकती आग से संतप्त होकर संकीर्ण होता जा रहा था। दिएगो परेरा जैसा एक साधारण व्यापारी पुर्त्तगाल के राजा का दूत वन कर चीन जाए, यह कदापि नहीं हो सकता था। वह हर तरह से उनकी यात्रा को विफल करने को उद्यत हो गया। शायद उसे संत फ्रांसिस से भी द्वेष था। १५४२ में जब भारत के भावी राज्यपाल दौन मार्टिन अलफौंसो द सुजा उसी अल्वारो को गिरफ्तार कर अपने साथ सोकोत्रा से गोआ ला रहे थे, तब संत फ्रांसिस भी उसी कुलाम पर यात्रा कर रहे थे। संत और राज्यपाल में जो मित्रता थी, उसे अल्वारो पहले देख चुका था। शायद उसी का बदला वह लेना चाहता था।

आरंभ में आल्वारो की ईर्ष्याग्नि भीतर ही भीतर सुलग रही थी, उसकी एक भी चिनगारी बाहर नजर नहीं आती थी। सांताक्रूज को उसने मलक्का न छोड़ने की आज्ञा दे दी; क्योंकि उसके कथनानुसार पुर्त्तगाली सत्ता की रक्षा के लिए मलक्का को उसकी आवश्यकता थी। लेकिन तथाकथित आवश्यकता की पोल खुलते देर न लगी। महाकप्तान का असली अभिप्राय प्रकट हो गया। लेकिन सब आग्रह और मिन्नतें व्यर्थ हुईं। महाकप्तान ने दिएगो के जहाज़ पर अधिकार कर लिया, उसके सिपाही सांताक्रूज पर पहरा करने लगे। और जहाज़ का हाल निकाल लिया गया। उसके अग्रज पेद्रो का भी अनुरोध बेकार सिद्ध हुआ। हार कर तत्कालीन कप्तान पेद्रो ने फ्रांसिसको आल्वारेज नामक एक

शाही न्यायकर्त्ता की शरण ली और अपने भाई पर अनधिकार हस्तक्षेप करने का दोष लगाया। वह भी व्यर्थ हुआ। उधर अल्वारो भी अकेला नहीं था। उसके भी बहुत से पिछलग्गू थे जो नए कप्तान की तीन साल की अवधि में अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे। ऐसे अवसर में भावी कप्तान का साथ न देना उससे झगड़ा मोल लेना था। परेरा ने भी कप्तान को मनाने की बहुत कोशिश की। उसके सिपाहियों के लिए मोटी रकम छोड़ जाने का भी वचन दिया। बहुधा देखा जाता है कि प्रतिद्वन्द्वी का सच्चरित्र ईर्ष्या कान्ड में घी का काम करता है। अल्वारो की भी यही बात थी।

सब उपाय बेकार जाते देख संत फ्रांसिस को अब अपने अंतिम शस्त्र का सहारा लेना पड़ा। एक दशक पूर्व वे यूरोप से संत पिता का राजदूत बन कर चले थे। इन दस वर्षों में उन्हें इस अधिकार का उपयोग करने का मौका नहीं आया था। अब हारकर उन्हें वह करना पड़ा जो उनकी उदार प्रकृति के प्रतिकूल था। यदि अल्वारो को पुर्त्तगाल के राजा का डर नहीं रहा तो पवित्र गिरजा के सर्वोच्च नायक के प्रति तो श्रद्धा अवश्य होगी, यह सोच कर संत फ्रांसिस ने एक मसविदा तैयार किया, जिसमें उन्होंने अपनी उपर्युक्त नियुक्ति का उल्लेख करते हुए मलक्का के विकर श्रद्धेय सोआरेस से अनुरोध किया कि इस हठधर्मी को अपना अधिकार त्याग देने को बाध्य करें। सन्त पिता के दिए पत्र में उन सभी के लिए सख्त सजा निर्धारित की गई थी,जो किसी प्रकार उनके राजदूत के कार्यों में बाधा डालें। लेकिन संत पिता के श्राप के पात्र बनने और पवित्र गिरजा से च्युत किए जाने की धमकी का भी कोई प्रभाव अल्वारो पर नहीं पड़ा।

न्यायाधीश फ्रांसिसको आल्वारेज ने इस बात की ओर भी संकेत किया कि परेरा को रोकने से महा कप्तान को राजद्रोह का दंड भुगतने की नौबत आ सकती है, क्योंकि गोआ के राज्यपाल का अपमान पुर्त्तगाल के राजा का अपमान है। यह सुन कर अल्वारो और भी आगबबूला हो गया। राज्यपाल का नाम जैसे ही उसके कानों तक पहुंचा, वह जमीन पर थूक कर पैर पकटते हुए गरज उठा, "राज्यपाल और उसके आदेश का मैं इतना ही आदर करता हूं।" धर्मच्युत करने के पहले उसने संत फ्रांसिस को अपनी नियुक्ति का प्रमाण-पत्र दिखलाने को कहा। उसका उत्तर संत फ्रांसिस के पास नहीं था। सीधे सादे संत को

क्या पता था कि कभी भी उन्हें अपने प्रमाणपत्र दिखलाने की आवश्यकता आ पड़ेगी और यह भी एक पुर्त्तगाली को। गोआ में पैर रखते ही उन्होंने अपना प्रमाणपत्र गोआ के धर्माध्यक्ष को दिखाया था और तब से वह कागजात गोआ में ही पड़ा रह गया था। प्रमाणपत्र के बिना ही वे संत पिता के राजदूत की हैसियत से चीन के सम्राट् से मिलने जा रहे थे। जब आधा रास्ता तय हो गया, तब प्रमाणपत्र की अचानक जरूरत आ पड़ी। शायद चीन की यात्रा स्थगित हो सकती थी लेकिन वे इसके पक्ष में नहीं थे। मलक्का में उनका रहना भी असह्य होता जा रहा था। अल्वारो के पिछलग्गुओं के व्यंग और अशिष्ट शब्दों से उनके कान पके जा रहे थे। वे विधर्मी सड़कों और गलियों में खड़े होकर संत फ्रांसिस की राह देखा करते और उन्हें देखते ही गालियों की बौछार करने लगते। जो भी फ्रांसिस भारत में पवित्र पिता की संज्ञा पा चुके थे, वे अब कुकर्मी और दुष्ट कहलाने लगे।

घोर निराशा

परिस्थितियों से पराजित तथा विरोधियों के उपद्रव से निराश होकर संत फ्रांसिस ने अपना हृदय ईश्वर की ओर उठाया। अपने जीवन के पृष्ठों पर नजर दौड़ाई। विनम्र तथा दीन संत ने इस असफलता का दोषी अपने को ही ठहराया। दिएगो परेरा की हालत पर विचार करते ही उनका कलेजा बैठ जाता था। बेचारे परेरा ने अपनी सारी संपत्ति बेच कर चीन के सम्राट् के लिए उपहार खरीदे थे। उसके हृदय पर क्या बीतता होगा। अपनी विपदाओं का खयाल न कर उन्होंने दिएगो के पास लिखा, "मेरे और आपके पाप इतने जघन्य हैं कि ईश्वर भी हमारी सेवा स्वीकार नहीं करते। इस दुर्भाग्य के असली कारण हमारे पाप ही हैं। मेरे पाप इतने भयंकर हैं, उनके कारण ही हमारा आयोजन मिट्टी में मिल गया और आप आज बर्बाद हो गए। निस्सन्देह अपने और अपने साथियों के विनाश का दोषी आप मुझे ठहरा सकते हैं। मेरे ही लिए आपने चीन के राजा के उपहार में चार-पांच हजार "परदाओ" लगाए। आप का वह धन भी बर्बाद हो गया, जहाज भी हाथ से निकल गया, सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई, इस क्षति की जवाबदेही मेरे ही सिर पर है। मैं आपसे विनय करता हूं, आप यह विचार

करें कि मेरी इच्छा सदा आपकी और ईश्वर की सेवा करने की ही थी। यदि बात ऐसी नहीं होती, तो मैं अब तक दुःख से मर गया होता। आप कृपया मुझसे मिलने न आएं, नहीं तो आपको देखते ही मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा।"

संत फ्रांसिस के लिए मलक्का में रहना असंभव हो गया। उनके बैरियों का तो उन पर आक्रमण होता ही रहता था, अब मित्रों से भी उनको दुःख मिलने लगा। उन्हें देखते ही उनका कोमल हृदय चीत्कार कर उठता। उनसे दूर रहने में ही गुंजाइश थी। मलक्का छोड़ वे सान्ता क्रूज पर चले गए। लेकिन वे परेरा को खाली हाथ अंधेरे में ढकेल देना नहीं चाहते थे। उनके विचार में उन्हीं के कारण परेरा बर्बाद हो गए थे। अतः उन्होंने अपने इस विश्वस्त मित्र के लिए अपने अन्य मित्रों द्वारा पुर्त्तगाल के राजा से सिफारिश की, कि बिगड़ी तकदीर को फिर से बनाने में उनको शाही सहायता मिले।

पेद्रो द सिल्वा का कर्ज संत फ्रांसिस के सिर पर अब तक था। इससे उऋण होने का आदेश उन्होंने बेरजे को दिया। पेद्रो द सिल्वा धनी नहीं थे, फिर भी उन्होंने दिल खोल कर तन मन और धन से संत की सहायता की थी। संत फ्रांसिस जापान में मेन्देज़ पिन्टो नामक एक धनी व्यापारी से यामागुची के गिरजा घर के निर्माण के लिए तीन सौ कूज़ादो कर्ज लिया था। उसे मलक्का लौट कर पेद्रो से ही लेकर चुकाया था। इसी की भरपाई करने का आदेश अब वे बेरज़े को देना चाहते थे।

जून के अन्त में मलुक्का के अवकाश प्राप्त कप्तान बेरनार्दलिन द सुज़ा के साथ संत फ्रांसिस के प्यारे मित्र बेइरा मलक्का पहुंचे। पांच वर्षों के बाद ये दो खीस्तवीर मिल रहे थे। बेइरा की सैनिक वीरता का समाचार संत को पहले ही मिल चुका था, उनसे मिलने की उन्हें बड़ी लालसा थी, लेकिन आशा नहीं। मलक्का के कष्टमय जीवन से बेइरा का स्वास्थ्य बिगड़ चुका था। अत्याचारों से उनका मष्तिष्क भी खराब होता जा रहा था। तेरनाते के सुल्तान ने अपने पुत्र को खीस्तानुयायी बनाने का वचन तो दिया था, लेकिन अब तक उसे पूरा नहीं किया था, न भविष्य में उसे पूरा होने की आशा थी। जिलोलो के अधिकार में चले जाने के कारण मोरो निवासियों ने खीस्त धर्म को तिलांजलि दे दी थी।

लेकिन पुर्त्तगालियों की सहायता पा मुक्त होते ही उन्होंने ईश्वर की कृपा से अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर लिया था।

अन्ततः चीन को प्रस्थान

अन्त में अल्वारो द अताइदा की आँखें खुलीं, लेकिन पूरी तरह नहीं। उसकी काली करतूतें घुन की तरह उसकी आत्मा को कुतरने लगीं और पुर्त्तगाली राजा के अवश्यंभावी प्रकोप के विचार मात्र से उसका हृदय कांपने लगा। सांताक्रूज को उसने चीन जाने तो दिया, लेकिन परेरा को किसी भी हालत में उस पर यात्रा करने की अनुमति नहीं दी; बदले में उसके २५ विश्वस्त सैनिक जहाज के रक्षार्थ जा रहे थे। राखों से ढंकी उसकी ईर्ष्याग्नि अब तक सुलग रही थी। यह अंतिम अवसर देख कर संत फ्रांसिस प्रस्थान के लिए तैयार हो गए। वे खाली हाथ जा रहे थे, पुर्त्तगाल के राजदूत का बिना उपहार लिए जाना व्यर्थ था, और चीन पहुंचना भी तो कोई निश्चित नहीं था। पुर्त्तगाली जहाज सांचन तक पहुंच सकता था। वहां से कान्तन पहुंचने में लाखों आपदाएं थीं। कांतन के चारो ओर बीस फुट चौड़ी और पच्चीस से चालीस फुट ऊंची चहारदिवारी थी। उन ६ मील लंबी दीवारों में प्रवेश के लिए कुल ६ दरवाजे थे। अवैध रूप से अन्दर घुसने के प्रयास में अब तक पचास पुर्त्तगाली काल के गाल में जा चुके थे और कितने कैद में पशु का जीवन बिता रहे थे। कांतन में हर एक विदेशी के सिर पर कैद और मृत्यु मंडराती थी, वहां संत फ्रांसिस जान पर खेल कर अवैध तरीके से जाने को प्रस्तुत थे। खीस्त की प्रेम-शिक्षा के प्रचार के लिए कोई भी जगह बंद नहीं की जा सकती।

जापानी योहन को मलक्का में ही छोड़, चीनी अन्तोनियो फरेरा और मलयाली खीस्तोफर को साथ ले संत फ्रांसिस सान्ता क्रूज पर जा चढ़े। अब न उन्हें पुर्त्तगाली राजा की शक्ति पर ही भरोसा था, और न परेरा के उपहारों पर। ईश्वर पर ही उनकी आशा केन्द्रित थी और किसी अनजान चीनी नाविक की दया पर, जो उनकी दशा पर तरस खा उन्हें चीन की भूमि पर पहुंचा देने के लिए अपनी नाव पर डेढ़ हाथ जगह दे दे। यदि इस बार वे चीन पहुंचने में सफल हो गए, तो नवंबर तक मलक्का लौट कर और राजदूत की मंडली का पूरा प्रबंध

कर फिर चीन जाने का विचार कर रहे थे। जुलाई के दूसरे पखवारे में सांता क्रूज ने लंगर उठाए, इक्कीस तारीख तक वह सिंगापुर पहुंचा। वहां कुछ दिन रुक कर फिर उत्तर की ओर मुड़ने लगा। संत ने एक बार और अपनी आंखें मलक्का और भारत की ओर उठाईं। अल्वारो द अताइदा, जापानी जौन, दिएगो परेरा, बेरजे, बेइरा, पेरेज, वाइसराय, गोआ के धर्माध्यक्ष और पुर्त्तगाल के राजा तृतीय जौन, सब एक-एक कर उनकी आंखों के सामने से गुजरने लगे। अल्वारो ने पुर्त्तगाली राजा तथा खीस्तेश्वर के कार्यों को ईर्ष्या और विद्वेश से वशीभूत होकर मिट्टी में मिला दिया था, उसका दोष तुच्छ समझ कर नहीं टाला जा सकता। उसको गिरजा से वहिष्कृत करने को उन्होंने बेरजे को आज्ञा भेज दी। संत पिता के राजदूत का अपमान कर अल्वारो ने यह बला अपने सिर पर ली थी। लेकिन संत फ्रांसिस गोआ के धर्माध्यक्ष द्वारा यह प्रकाशित करना चाहते थे, इस हेतु उन्होंने बेरजे को बूढ़े आलबुकर्क से सारी घटना कह सुनाने को कहा, "मैं कभी भी किसी धर्माध्यक्ष से किसी को धर्मच्युत कराने का अनुरोध नहीं करता, किन्तु यदि गिरजा के कानून या हमारे समाज को दिए गए आदेशपत्र द्वारा कोई धर्मच्युत हो जाए तो उसे यह बताने में मुझे संकोच कभी नहीं होगा कि वे अपने किए पर पश्चात्ताप करें और भविष्य में फिर ऐसा न करें।"

जापनी जौन को उन्होंने बेइरा के साथ भारत जानेका आदेश दिया और उसके लिए कुछ धन जमा करने के लिए पेरेज को लिखा कि आगामी वर्ष वह जापान जानेवाले अन्य खीस्तसेवकों को जापान ले जाए। संत यह कदापि नहीं चाहते थे कि वह घर जाकर कंगाल सा जीवन व्यतीत करे। उनकी इच्छा थी कि जौन भारत सें माल खरीद कर ले जाए और जापान में व्यापार करे। जापान के लिए संत फ्रांसिस को सदा चिन्ता बनी रहती थी। उन्होंने बेरजे को लिखा, "प्रति वर्ष किसी-न-किसी को जापान भेजने की अवश्य कोशिश कीजिए। हर प्रकार से, दया संघ, उदार सज्जन, वाइसराय, या दूसरों के द्वारा जापान के बंधुओं के लिए दान जमा करने की चेष्टा करते रहिए। कालेज में अवश्य याद कर मेरे और जापान के पुरोहितों तथा धर्मबंधुओं के लिए ईश्वर से प्रार्थना करिए।" और दिएगो परेरा, ने जिसको याद करते ही संत फ्रांसिस दुःख से

विह्वल हो जाते थे संत फ्रांसिस की चीन यात्रा को सफल बनाने के लिए उसने कैसी तैयारियां की थीं ? उनकी कैसी सहायता की थी ? अपने शारीरिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देने की सलाह देते हुए संत फ्रांसिस ने लिखा, "मैं सबसे अधिक इस बात का अनुरोध करता हूं कि आप ईश्वर के निकटतम आते जाएं कि वे ही आपको इन विपदाओं में सांत्वना दें।"

संत फ्रांसिस ने अकथ यंत्रणाओं का सामना करते हुए भी विरोधियों की भलाई पर ही ध्यान दिया। अल्वारो को धर्मच्युत कराना तो आवश्यक था कि दूसरे उससे सबक सीखें। उसी के प्रभाव से मलक्का के विकर श्रद्धेय जौन सोआरेज ने भी संत फ्रांसिस की चीन यात्रा में जरा भी मदद नहीं की थी, क्योंकि अल्वारो के पिछलग्गुओं में वे भी थे। अपने नए कप्तान से वे वैर मोल लेना नहीं चाहते थे।. ऐसे स्वार्थीयाजक के लिए भी उन्होंने राजा जौन से सिफारिश की। उन्होंने दिएगो को लिखा, "विकर ने मुझसे अपने लिए राजा से पैरवी करने का अनुरोध किया है। और मैंने यह किया भी है, यद्यपि मुझे मालूम हुआ कि उन्होंने हमारी यात्रा सफल बनाने के लिए छोटी उंगली भी नहीं उठाई थी। वे अल्वारो के पक्ष में रहना चाहते थे। उनका अभिप्राय स्पष्ट है। वे मूर्खों के स्वर्ग में रहते हैं जो सब सुखों के स्रोत ईश्वर को छोड़, मनुष्यों से कुछ पाने की चिन्ता में लगे रहते हैं। जो मेरे मित्र नहीं हैं, उनसे मैं उपकार द्वारा ही बदला लेता हूं।"

अनुकूल हवा के झोंके पाकर सान्ता क्रूज प्रशान्त सागर में उत्तर की ओर बढ़ता रहा। वातावरण शान्त था, लेकिन सन्त फ्रांसिस के लिए दुःख के दिन थे। उनके दोनों साथी फरेरा और चीनी अन्तोनियो सख्त बीमार पड़ गए थे, उनके बचने की कोई आशा न दीखती थी। लेकिन सन्त की निस्स्वार्थ सेवा से वे स्वस्थ हो पाए। जहाज पर अन्य मुसलमान और ख्रीस्तीय भी बीमार पड़े। सन्त ने इनकी भी सेवा दत्तचित्त होकर की। उनके लिए मुर्गियां खरीद लाते और अपने हाथों उन्हें बना कर खिलाते। अपने भोजन में से वे सदा आधे से अधिक उनके लिए बचा रखते। यदि किसी रोगी को किसी विशेष पथ्य की आवश्यकता होती, तो वे अन्य यात्रियों से वह चीज मांग लाते।

चीन सागर जैसे खतरनाक समुद्र से होकर भी परेरा का जहाज शान्तिपूर्वक जा रहा था। हवा पालों को भरती जाती, जहाज पानी चीर कर बढ़ता जाता। नाविक निश्चिन्त थे। सहसा एक नया द्वीप नजर आया। अब तक वहां किसी भी नाविक का आगमन नहीं हुआ था। संत फ्रांसिस को संदेह हुआ कि सांचन कहीं पीछे तो नहीं छूट गया। जापान से लौटते समय उन्होंने यह द्वीप तो नहीं देखा था। उन्होंने कप्तान को अपनी शंका से परिचित कराया। लेकिन कप्तान उनकी बात कैसे मानता। उनकी बातों पर विश्वास कर वे पीछे मुड़ना नहीं चाहते थे। फिर भी सन्त के अनुरोध से उन्होंने पता लगाने के लिए एक नाव भेजी। तीन दिनों के बाद वह नाव लौटी। तब नाविकों ने जहाज घुमाया और बिना किसी डर या खतरे के सान्ता क्रूज अगस्त के अन्त में सान्चन के किनारे लगा।

सान्चन द्वीप में

सान्चन का द्वीप, जहां चीनी और पुर्त्तगाली व्यापारी चोरी-चोरी मिलते थे, कोई मनोरंजक या मनोरम स्थान नहीं था। बंजर द्वीप के बालुकामय तट पर छोटी-बड़ी नावें समुद्र में लगे जहाजों से आती-जाती थीं। चीन वहां से ६ मील दूर उत्तर-पश्चिम कोने पर धुंधले चित्र-सा दिखाई देता था। तत्कालीन चीन का मशहूर नगर कान्तन तट से बहुत दूर था; अतः चीन के अधिकारी प्रचलित अवैध व्यापार पूर्णतः रोकने में असमर्थ थे। और अधिकारियों में से अनेक उस व्यापार पर रोक लगाने के पक्ष में भी नहीं थे, क्योंकि इससे उन्हें भी लाभ होता था। आधुनिक हांकांग सान्चन से सौ मील उत्तर-पूर्व बसा था। जब पुर्त्तगाली जहाज सान्चन पहुंचता, तब चीनी व्यापारियों का जत्था कान्तन से चुकियांग नदी के रास्ते आकर रेशम तथा सोने के बदले गोलमिर्च और तरह-तरह के मसाले चीनियों के भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए कान्तन ले जाते। लेकिन यदि दुर्भाग्यवश कोई भी पुर्त्तगाली उस बांसावरण के भीतर पकड़ा जाता, तो यदि मृत्यु नहीं, तो जेल की हवा अवश्य खानी पड़ती। सान्चन के तट पर पुर्त्तगाली अपना जहाज सदा तैयार रखते। आक्रमण का डर सदा बना रहता, कभी चीनी जलदस्युओं का, तो कभी चीन के राजकीय सैनिकों का। खतरे की घंटी बजते ही वे सुनसान सागर की शरण में छूमंतर हो जाते।

संत फ्रांसिस का पदार्पण जब सान्चन पर हुआ, तब वह व्यापारियों से भरा था। गौर पीत दोनों वर्णों के लोग वहां दीख पड़ते थे। सन्त के पुराने मित्र जौर्ज आल्वारेज भी वहीं थे।

लोगों ने सन्त का भव्य स्वागत किया। लेकिन दिएगो परेरा के बदले अल्वारो द अताइदे के सैनिकों को देख आल्वारेज को आश्चर्य अवश्य हुआ होगा। मलक्का के महाकप्तान के हथकंडों को समझते उन्हें देर न लगी। संत का संकल्प सुन कर उन्हें अचंभा और खेद दोनों हुआ। संत फ्रांसिस किसी की परवा न कर, अपनी लक्ष्य-सिद्धि में कार्यरत हो गए। चीनियों के मुख से चीन का वर्णन सुन कर उनकी उत्सुकता और भी बढ़ती जा रही थी। जिन चीनी व्यापारियों से भेंट हुई है, सब के सब अच्छे मालूम होते हैं। यही उनका विचार था। वे चीन में किसी भी तरह प्रवेश करने को कटिबद्ध हो गए। अपनी अंधेरी यात्रा में वे मलक्का से आशादीप जला कर चले थे, अब सान्चन पहुंचकर कान्तन पहुंचना कैसे दुष्कर हो सकता था। कोई भी छोटी-सी-छोटी नाव उस ६ मील के फासले को आसानी से तय कर सकती थी। लेकिन उसी सान्चन में कुछ ऐसे पुर्त्तगाली थे जो कान्तन के कैदखाने में भीषण यातनाएं झेल चुके थे; जिन्हें याद करते ही उनके रोंगटे खड़े हो जाते। इन्हीं अनुभवी लोगों में एक मानुएल द चावेस भी थे। इन्होंने ही कांतन के कैद से दिएगो परेरा के नाम राजदूत मंडली की स्थापना के लिए पत्र भेजा था। लेकिन जब वे स्वयं उस नरक से मुक्त हो चुके थे, तो अपने हतभागे देशवासियों के उद्धार का प्रयास हर प्रकार रोकने की चेष्टा कर रहे थे। उन्होंने तरह-तरह से सन्त को उस अभियान की मूर्खता दिखाने की कोशिश की। कान्तन के जेलों का आंखदेखा वर्णन किया जिसे सुन कर अन्य पुर्त्तगाली भी सन्त को समझा-बुझा कर रोकने लगे। लेकिन वज्र संकल्प फ्रांसिस में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हुआ। यदि पुर्त्तगाली उनकी मदद करने को तैयार न होंगे, तो वे चीनियों के सामने हाथ फैलाएंगे।

यहां भी कठिनाई

और अन्त में एक अच्छे स्वभाव का चीनी उन्हें मिल भी गया, जो अपनी पच्चीस मन गोलमिर्च से लदी नाव पर उन्हें कुछ जगह देने को तैयार हो गया।

इसी नेकदिल व्यापारी के घर मानुएल चावेस ने कान्तन से भाग कर शरण ली थी। उसकी नाव पर केवल उसके पुत्र और कुछ विश्वस्त दास थे। उस समय वह कान्तन लौट रहा था। वहां से वापस आने पर उसने सन्त फ्रांसिस को अपने साथ ले जाने का वचन दिया। इस समझौते के अनुसार वह तीन दिन संत को अपने यहां आश्रय देगा, और चौथे दिन पौ फटने के पहले ही उन्हें कान्तन के गवर्नर के महल के सामने उनकी पुस्तकों तथा अन्य सामानों के साथ पहुंचा देगा। इस प्रकार सन्त फ्रांसिस को चीन के राजा से मिलने तथा गोआ के राज्यपाल के पत्र दिखाने का अवसर मिल जाएगा।

पच्चीस मन गोलमिर्च देकर यह अवसर प्राप्त करने में सन्त फ्रांसिस अपना सौभाग्य ही समझते थे। लेकिन यह प्रबंध भी खतरे से खाली न था। संभव था कि धन लेकर वह व्यापारी उन्हें किसी निर्जन द्वीप पर मरने के लिए छोड़ दे, या कुछ दूर जाकर समुद्र में ढकेल दे। उधर वह व्यापारी भी बड़ी खतरनाक जवाबदेही अपने सिर पर ले रहा था, यदि राज्यपाल को किसी तरह पता लग जाए कि अमुक चीनी व्यापारी ने उस विदेशी को चीन में प्रवेश करने में सहायता दी है, तो उसे भी कैद में सड़ना पड़ेगा। यदि इन सब प्रारंभिक कठि-नाइयों का सामना करके फ्रांसिस किसी प्रकार राज्यपाल के महल तक पहुंच भी जाएं, तो चीन के कीड़ों से भरे कैद में दम तोड़ने या फांसी के तख्तों पर झूलने के सिवा किसी दूसरे परिणाम की आशा नहीं थी। किन्तु ये सब शंकाएं संत फ्रांसिस का कलेजा नहीं कंपा सकती थीं।

उन्हें केवल एक ही बात का डर था, जो मृत्यु या आजन्म कैद से भी भयावह जान पड़ती थी याने ईश्वर की दया और करुणा पर क्षण भर के लिए भी संदेह करना। "सब से भीषण तो यह है कि कहीं ईश्वर की दया और करुणा पर क्षण भर के लिए भी हमारा विश्वास और भरोसा डांवाडोल न हो जाए, जिनके सेवार्थ हम उनके पुत्र येसु ख्रीस्त अपने मुक्तिदाता और परम प्रभु के धर्म का प्रचार करने यहां आए हैं।" और संत फ्रांसिस जानबूझ कर अपने को इस खतरे में नहीं डाल सकते थे। ईश्वर की शक्ति पर उन्हें असीम विश्वास था। संसार की सारी शक्तियां भी यदि उनके विरुद्ध खड़ी हो जाएं, तो भी ईश्वर पर विश्वास कर उनसे लोहा लेने को तैयार थे।

बीमारी का शिकार

सितंबर की चौथी तारीख को संत फ्रांसिस ने सान्चन द्वीप पर मिस्सा का पूज्य बलिदान चढ़ाया, वह रविवार था। गिरजाघर कोई भव्य भवन नहीं, फूस की झोपड़ी थी, शायद पहली बार वहां ख्रीस्तयाग सम्पन्न हो रहा था। संत फ्रांसिस पुर्त्तगालियों की सेवा में लगे थे, विशेषतः उनके आध्यात्मिक उत्थान में। काम का अभाव नहीं था। अभी यात्रा की थकावट मिटी भी नहीं थी कि सन्त फ्रांसिस अपने कार्य में संलग्न हो गए। नतीजा यह हुआ कि वे स्वयं बीमार पड़े और दो हफ्तों तक ज्वर से जलते रहे। स्वस्थ हो जाने पर उनका कार्यक्रम पूर्ववत् चलने लगा। रोगियों की सेवा, गुलामों को धर्मशिक्षा और पुर्त्तगालियों की आध्यात्मिक देखरेख। गुलामों में एक पेरो लोपेज था जो गैरचीनियों की लड़ाई में पुर्त्तगालियों के हाथ आया था। संत फ्रांसिस भी एक ऐसे ही व्यक्ति की खोज में थे जो दुभाषिया बनकर उनके साथ चीन जा सके। उनका प्यारा अन्तोनियो इस काम के लिए बिलकुल बेकार था। फ्रांसिस पेरो को ही अपने साथ चीन ले जाने की सोच रहे थे। और पेरो तैयार भी था। लेकिन जब उसने कान्तन के कैदखाने का हृदयविदारक वर्णन सुना तो हिम्मत हार गया। अन्तोनियो और पेरो के अलावा मलयाली ख्रीस्तोफर था। लेकिन उस पर ऐसी आशा करना व्यर्थ था, क्योंकि उसको अपने वेतन से मतलब था।

संत फ्रांसिस सान्चन में सेवाकार्य में निमग्न थे, लेकिन उनकी आंखें चीन की ओर लगी थीं। उस चीनी व्यापारी पर उनको विश्वास था। फिर भी उनके मन का पंछी बार-बार भारत और जापान की ओर उड़ चलता। मलक्का में पैरेज का स्वास्थ्य दिन-दिन गिरता जाता था। संत ने उन्हें भारत जाकर कोचिन में इरिदिया का काम संभालने की आज्ञा दी और इरिदिया को जापान जाने को लिख भेजा। मलक्का से संत फ्रांसिस का दिल ऊब चुका था, उनके विचार में वहां उस समय येसुसमाजियों को रखना व्यर्थ था। यदि पीछे उनकी संख्या मे वृद्धि हुई तो फिर मलक्का के लिए किसी को भेजा जायगा।

दिओगो के नाम दो पत्र

दिएगो परेरा की हालत याद कर उनका दिल रो उठता था। वे अपने

व्याकुल हृदय को शान्त करने और दिएगो जैसे निस्स्वार्थ सेवक का दुःख कुछ हल्का करने के लिए उन्होंने उस व्यापारी के पास दो पत्र सांचन से लिखे। ये पत्र क्या हैं, उनकी कृतज्ञता और सहानुभूति की तसवीरें हैं। अपनी प्रत्याशित चीन यात्रा के विपय में उन्होंने लिखा, "यदि इस संसार में कोई है, जिसने इस महान कार्य में मेरी सहायता की है, जिसे ईश्वरीय विधान के अनुसार कृपा मिलनी चाहिए, तो वह निस्संदेह आप ही हैं, और इसकी सफलता का संपूर्ण श्रेय भी आपको ही प्राप्त होगा। असीम उदारतापूर्वक आपने मेरी और मेरे साथियों की यात्रा का खर्च उठाया है। यही नहीं, मेरे चीन महादेश और कान्तन प्रदेश तक पहुंचने का भी खर्च आप ही ने दिया है। आपका नौकर थोमस स्कान्देल्यो आपकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करता रहा है। जो कुछ उससे मांगता हूं, वह मुझे दे देता है। उसकी उदारता तथा अनवरत दया के लिए, जिसे वह हर समय दिखाता है, ईश्वर उसका भला करें।"

२५ वीं अक्टूबर को उन्होंने उस अति दूर भूखंड से गोआ के उपप्रदेशाध्यक्ष गास्पार बेरजे के नाम भी एक पत्र लिखा, जिसमें उन दिनों का सजीव वर्णन है। सन्त फ्रांसिस उस चीनी नाविक की राह देख रहे थे, लेकिन अब तक उस ६ मील प्रशस्त सागर पर वह परिचित नाव आती नहीं दीखी। तब संत के निराश हृदय गगन में आशा की एक रश्मि छिटकी। उन्हें खबर मिली कि चीन के राजा अन्य देशों की शासन प्रणाली का अध्ययन करने के लिए उत्सुक हैं। संत फ्रांसिस उन्हें केवल सांसारिक शासन प्रणाली ही नहीं, स्वर्ग की भी बातें बतलाने को वहां आए हैं। अब केवल एक ही बाधा थी, ६ मील चौड़ी जलराशि, जिसके सामने उनकी चार हजार मील से भी अधिक की यात्रा व्यर्थ सिद्ध हो रही थी। अब उनको एक दूसरा मार्ग दीख रहा था; वह था श्याम से होकर। यदि वह चीनी नाविक नहीं आया, तो वे श्याम से होकर चीन जाएंगे। बेरजे के नाम पत्र में संत के हृदय का प्रेम सूर्य की रोशनी के समान चमकता है, जिसे वे सबों तक पहुंचाना चाहते हैं। वे अपने बंधुओं से प्रार्थना की भीख मांगते हैं और गोआ के अन्य धर्मसमाजियों से भी यही अनुरोध करते हैं। भारत स्थित येसुसमाजियों के उपप्रदेशाध्यक्ष के पास लिखते समय मलुक्का उन्हें याद आता है, उस अनाथ मलुक्का के सहायतार्थ बेइरा के साथ किसी को भेजना होगा।

तेरह नवंबर को एक और पुर्त्तगाली जहाज मलक्का के लिए रवाना हुआ। संत फ्रांसिस ने फिर पेरेज, पेरेरा और वेरजे के नाम पत्र लिखे। पुनः वे परेरा को हृदय से धन्यवाद देते हैं: "हमारे प्रभु परमेश्वर आपको इसका पुरस्कार दें, क्योंकि वे ही इसमें समर्थ होंगे। मैं आपका ऋण कदापि नहीं चुका सकता। यह भार मुझे आजीवन ढोना पड़ेगा। यद्यपि मैं आपके ऋण का मूल्य नहीं चुका सकता, जब तक जीवन रहेगा, किसी-न-किसी प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रतिदिन अनवरत प्रार्थना के द्वारा उसका कुछ-न-कुछ ब्याज चुकाने की कोशिश करता रहूंगा कि ईश्वर सब बुराइयों से आपकी रक्षा करें और इस जीवन में कभी ऐसा न होने दें कि उनकी कृपा आप पर से उठ जाए। शारीरिक दुर्घटनाओं तथा दुर्भाग्य में वे आपके शरीर और आत्मा को बल प्रदान करें, जिससे आप अपने विश्वास में दृढ़ रहें, ईश्वर की आराधना और अपने धार्मिक कर्त्तव्य उत्साहपूर्वक पूरा करें। वे आपकी आत्मा को स्वर्ग की महिमा में ले जाएं। चेष्टा करके भी मैं अपने को इस समय संतुष्ट नहीं कर सकता। अतः मैं अपने येसुसमाज के सब बंधुओं की मदद मांगता हूं जो भारत के विभिन्न भागों में गिरजा के काम में लगे हुए हैं।"

केवल मुंह से परेरा को धन्यवाद दे संत संतुष्ट नहीं हो गए। उन्होंने पेरेज को लिखा, 'मैं आप लोगों से अनुरोध करता हूं कि आप लोग भारत के किसी भी स्थान में, जब कभी अवसर मिले, इस महापुरुष की सहायता करने की हृदय से कोशिश करें। स्वयं दुख सह कर भी इनके प्रति दया दिखाने के लिए प्रत्येक उपाय का प्रयोग करें। हम सबों का सम्मिलित उद्योग भी उनके इस अंतिम तथा इतने महान त्याग की बराबरी नहीं कर सकेगा जो हमारे धर्मप्रचार के लिए, चीन के साम्राज्य में प्रवेश करने में इतना सहायक हुआ है।"

लेकिन जिस प्रकार संत फ्रांसिस का हृदय दिएगो परेरा की उदारता याद कर कृतज्ञता से उमड़ उठता था, उसी प्रकार अल्वारो की उद्दंडता तथा हठधर्मी को स्मरण कर दुखित हो जाता था। अल्वारो के काले भविष्य का पूर्वाभास उन्हें कुछ-कुछ मिल गया था। उन्होंने पेरेज को लिखा: "ईश्वर इस व्यक्ति को क्षमा करें जिसका हाथ ऐसे कुकर्म में रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि निकट भविष्य में ईश्वर का प्रकोप, जिसके विरुद्ध उसने अपराध किया है, उस

सांचन द्वीप में फ्रांसिस के मृत्यु-स्थल पर बना गिरजाघर (पृष्ठ २०२)

पर आनेवाला है। शायद इसका अनुभव उसे अभी भी हो रहा है।" उन्होंने वेरज़े को गोआ के धर्माध्यक्ष से कह कर कानूनी तौर से अल्वारो को गिरजा से च्युत कराने की आज्ञा दी,क्योंकि इस पुर्त्तगाली ने संत पिताकी आज्ञाका उल्लंघन किया था। अल्वारो को दंड मिलना जरूरी था कि उसे अपने अपराध की जघन्यता तथा उसके उचित दंड का ज्ञान हो जाए।

उसे दंड दिए विना संत फ्रांसिस संतुष्ट नहीं होने को थे, क्योंकि इस घटना का प्रभाव भविष्य पर पड़ सकता था। यदि सबों की धारणा हो जाए कि ऐसे अपराध विना सजा के भुलाए नहीं जाते, तो वे ऐसी बातों में संत पिता, पुर्त्तगाल के राजा और ईश्वर का अपमान इतनी आसानी तथा शीघ्रता से करने की हिम्मत नहीं करेंगे। "मैं आपको फिर अपना यह आदेश बड़े यत्न से पूरा करने की आज्ञा देता हूं। आप धर्माध्यक्ष से उन लोगों पर धर्मच्युत के कानून लागू करने को कहें जिन्होंने मेरी चीन यात्रा में बाधाएं डाली हैं, क्योंकि मैं संत पिता के राजदूत की हैसियत से चीन जा रहा था।" संत फ्रांसिस के ये अंतिम पत्र थे सांचन द्वीप से लिखे।

—वह नहीं आया—

संत फ्रांसिस उस चीनी व्यापारी की राह देख रहे थे। लेकिन वह नहीं आया और धीरे-धीरे सान्चन को निर्जन छोड़ एक-एक करके व्यापारी विदा होते गए। अन्त तक फ्रांसिस किसी तरह कान्तन नहीं पहुंच सके, तो सीधे स्याम चले जाएंगे। दिएगो आरागाओ नामक एक व्यापारी, जो वुंगों के दरबार में कुछ दिन रह चुका था, अपने जहाज के साथ श्याम ही में शरद काटना चाहता था। स्याम से प्रतिवर्ष राज़दूत की एक मंडली चीन के राजा के दरबार में जाया करती थी। इस मंडली में कहीं संत फ्रांसिस को भी जगह मिल जाए तो उनका परिश्रम सफल हो जाएगा। और यदि स्याम में ६ महीने रह कर भी चीन जाने में सफल नहीं हुए तो भारत लौट जाना ही अच्छा होगा। इस कारण उन्होंने दिएगो परेरा की नियुक्ति का प्रमाणपत्र उनके पास भेज दिया। यदि अगले साल दिएगो का पासा पलटा, तो उस प्रमाणपत्र की आवश्यकता पड़ेगी। दिएगो का सान्ता क्रूज एक महीने के अन्दर ही सान्चन से प्रस्थान करनेवाला

था। उसी पर संत अपना पवित्र चषक भेज देना चाहते थे कि परेरा की मंडली में आनेवाले येसुसमाजी पुरोहित को पूज्य बलिदान की सामग्री की कमी न हो पाए। तब तक स्वयं संत फ्रांसिस खीस्तयाग बिना ही रहेंगे?

नवंबर का अन्त निकट आता जा रहा था, लेकिन उस चीनी व्यापारी की नाव नहीं दीखती थी, उल्टे कान्तन से जो खबर आती, वह पहले से भी भयंकर होती। परेरा द मिरान्दा, जिसने हिरादो में संत फ्रांसिस का भव्य स्वागत ही नहीं, बल्कि सहायता भी की थी, अब कान्तन की कैद में सड़ रहे थे, जहां न खाने के लिए भोजन, न सांस लेने के लिए शुद्ध वायु थी, जहां के तहखानों में बेड़ियों से जकड़े कैदी, अधिकारियों के लात-जूते सहा करते थे। ऐसे समाचार सुन कर संत फ्रांसिस के समाजबंधु परेरा की भी हिम्मत छूटने लगी। संत फ्रांसिस ने उन्हें तुरंत समाज से हटा दिया और मलक्का और गोआ के भाइयों को इस घटना से अवगत कराया कि कहीं भूल से उन्हें अपने साथ रख न लें। उनका दुभाषिया पेरो लोपेज भी किनारा काटने लगा। जौर्ज आल्वारेज, संत के पुराने मित्र भी सान्चन से चले गए थे। निर्जन सान्चन पर एक ही जहाज रह गया था, दिएगो परेरा का सान्ता क्रूज जो तट से कुछ दूर लहरों पर झूम रहा था।

पुर्त्तगालियों की संख्या सांचन में कम हो जाने के कारण संत फ्रांसिस का कार्य भी घटता जा रहा था। उनका दिल चीन जाने को और व्यग्र हो उठा। उनकी आंखें उस रहस्यमय देश की धूमिल किनारों की ओर लगी रहती थीं, दूर क्षितिज से आती किसी नाव को देखने की कोशिश में सदा विस्फारित। संत फ्रांसिस के हृदय में तूफान मच रहा था। इस झंझा के झोंकों में वे अपना आशादीप जलाए रखने की सतत चेष्टा कर रहे थे। अपने को सब ओर से असहाय और एकाकी अनुभव कर रहे थे। नवंबर की हड़कंप ढंढ में उनका शरीर कांप उठता। रसद भी घटने लगी थी; भोजन के अभाव से शरीर गलने लगा। लेकिन उनके संकल्प में न निर्बलता आई, न उनकी आशा में शिथिलता।

जब क्षुधा उन्हें बेचैन करने लगी तो उन्होंने अन्तोनियो को सांता क्रूज के नाविकों से कुछ भोजन मांग लाने को भेजा। दिएगो वाज अपने सामर्थ्य के अनुसार उनकी सहायता करते रहे। फिर भी उस निर्जन भूखंड में झोपड़ी में ठंड और भूख से किसका बचाव हो सकता था। धनलोलुपता, ईर्ष्या तथा परि-

स्थितियों का शिकार, सब प्रकार से पराजित, अपनी लक्ष्य-सिद्धि का आशादीप लिए संत फ्रांसिस अब भी अपने को आगे बढ़ाने की कोशिश में लगे थे। नवंबर मास की ठंढी हवा का एक झोंका आया, तीर-सा उनके चेहरे पर लगा, उनका जर्रा-जर्रा कांप उठा, उनकी अन्तरात्मा चीख उठी। सवेरे सूरज मुस्कुराता, लेकिन उनकी किरणें आशाज्योति बरसा कर चली जातीं। दिन का क्षण क्षण युग-सा प्रतीत होता और रात्रि के शरदाकाश के तारे उस छियालीस वर्षीय अधेड़ पर व्यंग से अट्टहास करते। दिन लंबे होते तो रात उसकी दूनी। लेकिन संत फ्रांसिस की आशा अणुमात्र भी नहीं टूटी। एक तरह से पराजित होकर भी वे आशातीत विजय की प्रतीक्षा करते रहे। उनकी आशा व्यर्थ नहीं होगी। विजय आएगी, पर चीन की भूमि पर नहीं। लेकिन उसी सान्चन के निर्जन भूखंड पर, जिससे वह द्वीप युग-युग के लिए पुनीत हो जाएगा।

नवंबर की इक्कीसवीं तारीख को सांचन के फूस के गिरजाघर में संत फ्रांसिस ने एक व्यापारी के दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए मिस्सा का पूज्य वलिदान चढ़ाया। उसके वाद वे स्वयं खाट पर पड़ गए। यूरोप से आने के वाद उन्होंने दस वर्ष से अधिक सुदूर पूर्व में विताए थे। उनके बाल कुछ सफेद हो गए थे, पर शरीर अब भी हृष्ट-पुष्ट था। परिस्थितियों के भार से वह शरीर दिन-दिन विना उनके जानें क्षीण होता जा रहा था। अल्वारो आताइदे का दुर्व्यवहार, चीनी व्यापारी के लिए अविरल प्रतीक्षा, भोजन का अभाव और सांचन की सर्दी उनकी शक्ति खा रही थी।

—मृत्यु की छाया—

बुखार से उनका शरीर तवे के समान जल रहा था। उन्होंने सोचा, सांता क्रूज में कुछ आराम मिल सकेगा। उस दिन मध्याह्न को एक छोटी नाव पर वे सांता क्रूज पर गए। लेकिन लहरों के साथ उठता-गिरता जहाज उनके स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद नहीं सिद्ध हुआ। रात भर में उनकी तबीयत और खराब हो गई। सुबह को नाविकों ने उन्हें द्वीप पर चले जाने की राय दी। उनकी राय मान वे अपने प्यारे अन्तोनियो के पास लौट आए। उनके हाथ में ठंढ से बचने के लिए एक पतलून था और पेट की क्षुधा मिटाने के लिए कुछ वादाम। ज्वर

से उनका अंग-अंग कांप रहा था। तब भी उनके मुंह से आह तक न निकली। वीर सैनिक फ्रांसिस वीरतापूर्वक अपनी विजय की ओर बढ़ रहे थे। उनकी ऐसी दशा देख दिएगो वाज उन्हें अपनी झोपड़ी में लिवा लाए। स्वास्थ्य की तत्कालीन चिकित्सा पद्धति के अनुसार उन्होंने संत फ्रांसिस का रक्त स्राव कराया। इसके बाद संत फ्रांसिस कुछ समय तक संज्ञाहीन रहे। बुधवार को उनका जी मितलाने लगा, वे कुछ खा नहीं सके। दूसरे दिन फिर रक्त स्राव कराया गया। वे फिर मूर्छित हो गए। धीरे-धीरे चेतना उन्हें छोड़ती जा रही थी। इस हालत में उनके मुंह से यही प्रार्थना निकलती, "हे येसु, दाउद के पुत्र, मुझ पर दया करिए। मेरे पापों पर दया की दृष्टि डालिए।" खाट पकड़ने के आठवें दिन तक उनकी यही हालत रही। सोमवार को उनका कंठ भी बंद हो गया। तीन दिनों तक वे कुछ नहीं बोले। बृहस्पतिवार के मध्याह्न को चेतना लौटी। उनकी आंखें खीस्तोफर पर पड़ीं। ठंढी आह के साथ उन्होंने कहा, "हतभागे, हतभागे, हतभागे।" शायद उनकी आंखें अनागत भविष्य की ओर देख रही थीं, जब उस दिन से ६ महीनों के बाद मलक्का की गलियों में पाप-पंक से लिप्त हतभाग खीस्तोफर इस संसार से कूच कर जाएगा।

धीरे-धीरे रोगी की दृष्टि भी क्षीण होने लगी। किसी को पहचानना भी उनके लिए दुष्कर हो गया। उनका शरीर गलता जा रहा था, उनकी आत्मा अपने प्रियतम में तन्मय होती जा रही थी। उनका ध्यान परम पवित्र त्रित्व में लीन था। उस संज्ञाहीन अवस्था में भी उनके उद्‌गार त्र्यैक ईश्वर के विषय में ही थे। उनकी भाषा दुर्बोध थी। जहां-तहां अन्तोनियो एकाध शब्द समझ पाता। संभवत: संत फ्रांसिस अपनी प्यारी मातृभाषा में, अपने पूज्य देव से संभाषण कर रहे थे। वह बास्क भाषा जिसे उन्होंने नव्वार के दुर्ग में अपने प्रियजनों से सीखा था। बार-बार वे पुकार उठते, "दाउद के पुत्र, मुझ पर दया करिए।" वे अपने उस अंतिम क्षण में संत मरियम, अपनी परम प्यारी जननी को, जिसके प्रति उनके हृदय में बचपन ही से प्रेम तथा भक्ति उमड़ती आ रही थी, बार-बार पुकारते, "हे ईश्वर की कुंवारी माता, मुझको न भूलिए।"

शुक्रवार तक उनकी यही दशा रही। तब रात को उनकी दशा तेजी से गिरने लगी। रात आधी बीत चुकी थी, गगन का तारामंडल उस निस्तब्ध

वातावरण में आंखें फाड़-फाड़ कर सान्चन के रंगमंच का अभिनय देख रहा था। अंतोनियों की सजल आंखों ने महाप्रयाण के लक्षण देखे, विश्वस्त साथी ने सन्त फ्रांसिस के बलहीन हाथ में जलती बत्ती थमा दी। वह था तीसरी दिसंबर १५५२ का स्वर्णिम प्रभात, जब सुदूर पूर्व के प्रेरित फ्रांसिस जेवियर की दिव्य आत्मा अपने अनंत प्रेमी परमात्मा से मिलने चली गई।

बारहवाँ परिच्छेद

विजय तथा महिमा

शान्त सान्चन की वह फूस की झोपड़ी बत्ती की धीमी रोशनी से प्रकाशमयी हो रही थी, बाहर उषा के साथ प्राची के आकाश पर दिनकर का रथ ऊपर उठ रहा था। जिस परम पुनीत येसु के नाम का उच्चारण कर कोटि-कोटि ख्रीस्तीयों ने हंसते-हंसते तलवारों को हार की तरह गले में डाला था, अपने भाल पर आग का चन्दन लगाया था, निश्चिन्त हृदय से अपने सिर जंगली जानवरों की गोद में रखे थे अथवा अथाह सागर की गहराई में प्रवेश किया था, उसी पवित्रतम नाम का उच्चारण कर शनिवार के प्रातःकाल दो बजे, संत फ्रांसिस ने स्वर्ग के विजय मंडप में प्रवेश किया। सांचन की फूस की झोपड़ी में वह पुनीत नाम कुछ देर तक गूंजता रहा, उसकी प्रतिध्वनि कालान्तर में कान्तन की मोटी दीवारों से ही नहीं, चीन और सुदूर पूर्व के घर-घर में टकराएगी। झोपड़ी शान्त हो गई, विश्वस्त सेवक अन्तोनियों की आंखों से प्रेम और विरह के आंसू झड़ने लगे। तारे शोक में एक-एक कर अपना मुंह छिपा कर विदा हो गए। उस दिन संत फ्रांसिस की उम्र छियालिस वर्ष और आठ मास थी। संत फ्रांसिस के दिव्य अवशेष एक टूटी खाट पर फूस की झोपड़ी में पड़े थे।

दुःख से विह्वल अन्तोनियो संत फ्रांसिस की मृत्यु का दुखद समाचार लेकर सान्ता क्रूज के पुर्त्तगाली नाविकों के पास पहुंचा। मित्रों तथा शुभचिन्तकों के दुख का पारावार न रहा। यद्यपि संत की बीमारी की खबर उन्हें पहले से थी फिर भी उनको इसकी आशंका भी न थी कि फ्रांसिस कान्तन की चहारदीवारी के बाहर से ही विदा हो जाएंगे। उनमें से कुछ पुर्त्तगाली जहाज पर से पूज्य मिस्सा के वस्त्र लेकर अन्तोनियो के साथ आए।

संत फ्रांसिस का शव देखकर उन्हें विश्वास न हुआ कि वह निष्प्राण पड़ा है। चेहरे पर विजय की शान्ति विराज रही थी। जीवन भर उन्होंने अपने प्रभु

के लिए दुःख उठाए थे, अब मृत्यु के बाद विषाद के चिह्न उनके चेहरे से लुप्त हो गए थे। अन्तोनियो ने शव को मिस्सा के वस्त्रों से सजाया और उसे लकड़ी की तावूत में रख कर और एक छोटी नाव में चढ़ा उसे दफनाने के लिए सांचन के पूर्वी भाग में चला। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी, नाविकों को बाहर आने की हिम्मत नहीं हो रही थी। अन्तोनियो ने एक गहरी कब्र खोदी, उसके साथ तीन और व्यक्ति थे, एक पुर्त्तगाली व्यापारी और दो गुलाम। दुख का मारा अन्तोनियो श्रद्धा और प्रेम से अपने पूज्य पिता के अवशेष कब्र के हवाले कर मिट्टी से ढंक ही रहा था कि किसी ने राय दी, तावूत को चूने से क्यों न भर दिया जाए कि सान्ता-क्रूज के सांचन से विदा होने के समय तक फ्रांसिस की अस्थियां गोआ ले जाने लायक हो जाएं।

यह सुझाव चीनी अन्तोनियो को जंच गया। चारों मिलकर चार बोरे चूना उठा लाए। अन्तोनियो ने तावूत खोल कर बोरे चूना शव के नीचे रखा और बाकी से शव को अच्छी तरह ढंक दिया। तावूत धीरे से नीचे लटकाई गई और मिट्टी को मिट्टी में मिला देने के प्रयास में कब्र को मिट्टी से ढंक दिया। उनके नेत्र सजल थे। अन्तोनियो ने निशान के लिए कब्र पर दो-चार पत्थर रख दिए। फ्रांसिस के स्मरणार्थ विश्व भर में बनाई जानेवाली असंख्य इमारतों की नींव के ये प्रथम पत्थर थे। अन्तोनियो ने सोचा, शायद किसी समय फ्रांसिस के समाज बंधु भूलते-भटकते सांचन पहुंच जाएं तो वे येसुसमाज के इस महारथी की कब्र पर जाकर ऐसे दिव्य जीवन से प्रेरणा प्राप्त करेंगे और उत्साह-पूर्वक उनके पद-चिह्नों पर आगे बढ़ेंगे।

दिसंबर की चौथी तारीख को सांचन द्वीप पर सन्नाटा छा गया। रात आई और अंधकार बिखेर कर चली गई। उषा आई और उन झोपड़ियों पर अट्टहास कर विदा हो गई। दिसंबर की सर्दी के बाद जनवरी भी वैसी ही ठंढ लेकर पहुंची। फरवरी आने पर सान्ता क्रूज मलक्का लौटने को तैयार हुआ।

अक्षय शव

फ्रांसिस की अस्थियां सांचन में ही छोड़ सान्ता क्रूज को प्रस्थान करते देख अन्तोनियो ने जहाज के कप्तान से निवेदन किया कि आप कब्र खुदवाकर शव

की जांच करें। लेकिन मलक्का के कप्तान अल्वारो द अताइदे के विश्वस्त सैनिक, जो सन्त फ्रांसिस की अन्त्येष्टि में भाग लेकर पुण्य कमाने को भी तैयार न थे, वे भला उनकी महकती लाश ले अपनी नाक क्यों फाड़ने जाते। अन्तोनियो के वहुत हठ करने पर अल्वारो के सहयोगी कप्तान ने अपने आदमी भेजे। कब्र खुली तो उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास न हुआ। सड़ती लाश की जगह संत फ्रांसिस का शव उसी हालत में पड़ा था, जैसे अन्तोनियो ने दस सप्ताह पहले धरती को सौंपा था। वही सुन्दर चेहरा, वही सौम्य शान्ति। दुर्गन्ध के वदले चूने की महक उससे निकल रही थी। सान्ता क्रूज के कप्तान को विश्वास दिलाने के लिए एक पुर्त्तगाली संत फ्रांसिस के शरीर से काट कर मांस का एक टुकड़ा लेता गया। यह चमत्कार देख कर कप्तान ने तावूत उठा लाने की आज्ञा दी। उसके आदेशानुसार तावूत अच्छी तरह वंद करके जहाज पर रख दी गई। फरवरी की १७वीं तारीख को सांता क्रूज अपनी अमूल्य तिजोरी लेकर सांचन से दक्षिण की ओर रवाना हुआ।

२२वीं मार्च को सांताक्रूज मलक्का पहुंचा। सारे नगर में आनंद की लहर फैल गई। जहाज से तट पर लगने से पूर्व ही दिएगो परेरा को सारा वृत्तांत मालूम हो गया था। उनकी व्यवस्था से संत के दिव्य अवशेष के स्वागतार्थ जगह-जगह शानदार तैयारियां की गई थीं। सारा मलक्का स्वागत के जुलूस में उमड़ पड़ा। लेकिन एक व्यक्ति अभी तक अपने दिल से घृणा नहीं निकाल सका था। अल्वारो द अताइदा मलक्का के कप्तान की द्वेषाग्नि अभी तक जल कर राख नहीं हुई थी। जव मलक्का संत फ्रांसिस की जयजयकार कर रहा था, वह अपने वरामदे में वैठा गोटी खेल रहा था। अवोध नागरिकों की मूर्खता पर मुस्कुरा रहा था, जो फ्रांसिस के अक्षय अवशेष को पा खुशी से पागल हो रहे थे।

संत फ्रांसिस का शव मरियम के गिरजाघर में लाया गया। इसी भवन में संत फ्रांसिस मलक्का निवासियों को धर्मोपदेश दिया करते थे। उस शव को देखने के लिए भीड़ की भीड़ आने लगी। वे अपने प्रिय पिता के अक्षय शरीर को देखते, पुर्त्तगाली और मलय, खीस्तीय और गैर खीस्तीय सबके सब उस महान चमत्कार के लिए ईश्वर को धन्यवाद देते। गिरजाघर की मुख्य वेदी के पास

शिलाखंड को काट कर एक कब्र खोदी गई और दिव्य पूजा के वस्त्रों में सजा कर शव को उसी में रक्खा गया। लेकिन कब्र कुछ छोटी थी, कब्र बंद करने के लिए सिर को कुछ सामने की ओर झुकाना पड़ा। उस पत्थर की कब्र में संत फ्रांसिस का शरीर बिना किसी तावूत के पड़ा रहा।

शव की भारत-यात्रा

जब संत फ्रांसिस की मृत्यु का समाचार गोआ पहुंचा तो वस्तुस्थिति का पता लगाने बेइरा मलक्का चले। मलक्का पहुंचने पर उस महान चमत्कार की खबर मिली। पन्द्रह अगस्त की रात को उन्होंने अपने मित्र और संत फ्रांसिस के परम भक्त दिएगो परेरा के साथ कब्र खोली। अपने चिर मित्र और आदर्श फ्रांसिस का वही चिर परिचित मुखमंडल देख उन्हें उस आत्मा की महानता का आभास मिला। उस शरीर पर मृत्यु की छाया तनिक भी नहीं पड़ी थी। केवल लोगों की असावधानी से संकीर्ण कब्र में रखने के कारण नाक कुछ टूट गई थी और चेहरे पर कुछ जख्म आ गए थे। कब्र में एक नुकीला पत्थर रह गया था जो दाहिनी वगल विंध गई थी। उस अमूल्य धन को मलक्का में छोड़ना वेइरा ने सर्वथा अनुचित समझा। शीघ्रातिशीघ्र उसे गोआ पहुंचाने के अभिप्राय से वे उसे दिएगो परेरा के घर ले गए। अपने मित्र का दिव्य अवशेष अपने यहां रखकर परेरा अत्यन्त सम्मानित हुए। रेशम के मूल्यवान वस्त्रों में उसे लपेट कर उन्होंने ११वीं दिसंबर तक अपने यहां रखा, तब एक जीर्ण जहाज पर उसे भारत ले चले। नाविक डर रहे थे कि कहीं अथाह सागर के निस्तल गर्भ में वह धनराशि विलीन नं हो जाए। लेकिन परेरा को संत फ्रांसिस की शक्ति पर दृढ़ विश्वास था। वह पुराना जहाज बंगाल की खाड़ी की भयानक लहरों से लड़ता अपनी संपत्ति छाती में छिपाए गोआ की ओर बढ़ता गया।

संत फ्रांसिस के स्वर्गवास की खबर पाकर सारा कोचिन शोक मना रहा था। फ्रांसिस की अन्त्येष्टि समारोह के अवसर पर भाषण देने के लिए एक दोमिनिक समाजी मंच पर चढ़े तो उन्हें विवश होकर उतर आना पड़ा। लोगों के क्रन्दन के कारण उनका भाषण सुनना असंभव हो गया। लेकिन जब संत फ्रांसिस के अक्षय शव की खबर गोआ पहुंची, तब सारा गोआ आनंद की उमंग से थिरक

उठा। कोचिन में फ्रांसिस पेरेज को संत के शव के साथ भारत पहुंचने की खबर मिली, तो वे अविलंब गोआ के लिए जहाज पर सवार हो गए। जब गोआ में ज्ञात हुआ कि शव कोचिन पहुंच चुका है, तो संत पौल के अध्यक्ष मेलकियोर नूनेज़ बारेतो एक तेज नाव पर जहाज से मिलने निकल पड़े। उनके साथ संत फ्रांसिस के भक्त और प्रथम जीवनी लेखक तेस्सेरा और संत पौल कालेज के कुछ विद्यार्थी भी थे। नूनेज़ को विश्वास नहीं हो रहा था कि संत फ्रांसिस का शव अक्षय रह सकता है। जब उन्होंने परेरा के जहाज को पताकाओं और झंडों से सजा देखा और तोपों को सलामी देते सुना तो उसका अविश्वास जाता रहा। कीमती वस्त्रों से सजे शव को लेकर वे द्रुतगति से गोआ की ओर बढ़े। मार्च की पन्द्रह तारीख, दुखभोग सप्ताह के बृहस्पतिवार की आधी रात को उनकी नाव गोआ बंदरगाह में लगी। सारी रात संत पौल का गिरजाघर सजाने में बीत गई। शुक्रवार को शव के स्वागत-समारोह का आयोजन था।

संत की अभ्यर्थना

पौ फटने के पहले ही बंदरगाह पर लोगों की अपार भीड़ जमा होने लगी। कितने तो तैर कर नाव के पास पहुंचने की चेष्टा करने लगे। गोआ के धनी-गरीब, वाइसराय और नगर के अमीर-उमराव, सबके सब तट पर एकत्र होने लगे। वाइसराय के आज्ञानुसार गोआ के सब घंटे आनंदोल्लास से बज उठे। संत फ्रांसिस के विजय नाद से सारा गोआ गूंजित हो उठा। बंदरगाह से जुलूस संत पौल के गिरजाघर की ओर बढ़ा। चार दिनों तक लगातार भक्त दर्शनार्थियों का तांता लगा रहा। लोग आते और उस परमादरणीय अवशेष के पास घुटने टेक ईश्वर से प्रार्थना करते, उन पावन चरणों को श्रद्धा से चूम कर अपने भाग्य सराहते। भीड़ इतनी थी कि लोगों के रहते शव को दफनाना असंभव हो गया। अवसर देख कर रात के सन्नाटे में अधिकारियों को यह कार्य सम्पन्न करना पड़ा। पहले तो संत पौल के गिरजाघर में ही पुनीत अवशेष को दफनाया गया, पर कुछ दिनों के बाद उसे एक विशाल मंजूषा में रखा गया, जिसे देखने के लिए भारत और संसार भर से यात्री आज भी गोआ आते-जाते हैं।

संत फ्रांसिस के शव के इस चमत्कारपूर्ण प्ररक्षण के विषय में अब कोई संदेह

नहीं रह गया है। गोआ लाए जाने के डेढ़ ही वर्ष बाद तत्कालीन राज्यपाल की आज्ञा से उस शव की पूरी जांच की गई। उस समय दो चिकित्सकों की दी हुई साक्षी अब भी विद्यमान है। डाक्टर कोस्मस सरेवा, जिन्होंने मोजांबीक में रोगी संत फ्रांसिस का इलाज किया था और डाक्टर आम्ब्रोजियो रिबेरो ने शव के अंग प्रत्यंग की जांच की। गोआ के उच्चाधिकारियों की शंका थी कि मसाला लगा कर उसे किसी ने सुरक्षित रखा है। डाक्टर रिबेरो ने अपनी कैफियत देते हुए कहा, "मैंने अपने ही हाथों शरीर की सभी मांसपेशियों को दबा-दबा कर देखा है और गवाही देता हूं कि मांस बिल्कुल स्वस्थ और मुलायम है, शुष्कता कहीं भी नहीं आई है और अपने प्राकृतिक चमड़े से ढंका है। सड़ने की निशानी कहीं भी नहीं है।"

संत फ्रांसिस के अक्षय शरीर की चर्चा सुन कर खीस्तीय मत के केन्द्र रोम के निवासी उसे अपनी नगरी में रखना चाहते थे। लेकिन गोआ अपनी अतुल धनराशि से पृथक् होना नहीं चाहता था। अतः येसुसमाज के अधिनायक के आज्ञानुसार एक भुजा काट कर रोम भेजी गई, जो १९४९ में विश्वयात्रा के लिए निकली थी। १६९४ ई० तक संत फ्रांसिस का शव बिलकुल स्वस्थ रहा, लेकिन उसके चौदह वर्ष बाद सूखने लगा। फिर भी आज तक यह शव सड़ा नहीं है। १९३२ में सर्वसाधारण की भक्ति के लिए चांदी का संदूक खुला था। उसी अवसर पर पहली बार उस चमत्कारमय शव के चित्र भी लिए गए। १९५२ में संत फ्रांसिस के स्वर्गवास की चौथी शती समारोह के उपलक्ष्य में ताबूत फिर खोली गई। समस्त भारत और देशविदेश से भक्तवृन्द महान संत फ्रांसिस के पुण्य अवशेष के दर्शन करने गोआ पहुंचे। चार सदियों का शव बिना किसी रक्षा-उपचार के अब तक कीड़ों का खाद्य नहीं बन सका है, यह ईश्वर के विशिष्ट अनुग्रह से ही संभव हो सकता है।

—संत घोषणा—

धर्मवीर फ्रांसिस सन् १६२२ में विधिवत् संत घोषित किए गए। इस घोषणा का अर्थ यह है कि फ्रांसिस अब स्वर्ग में अपने वीर जीवन के पुरस्कार स्वरूप ईश्वर के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं, सदा उनके समक्ष हैं। अपनी आंखोंमें

वे तुच्छ थे, लेकिन आज उस दीनता के लिए ही मनुष्य तथा भगवान सभी उन्हें सम्मानित कर रहे हैं। उनका जीवन कठिन और दुखमय था,पर अब वे बियालीस वर्ष के दुख इस असीम अनंत सुख की तुलना में क्या थे ? उनके हृदय में वह निष्काम प्रेम था जिसके प्रचार के लिए उनका अंग-प्रत्यंग निस्वार्थ परिश्रम करने के लिए स्पंदित हो उठा था। दुर्दैव भी उनकी आशा-दीपिका नहीं बुझा सका। इसके विपरीत ईश्वर के विधान पर उनका विश्वास दृढ़तर हो गया। अपने जीवन-काल में कोई भी संत घोषित नहीं हो सकता, वह भले ही सिद्धि के उत्तुंग शिखर को प्राप्त कर चुका हो।

संत घोषित करने के पूर्व गिरजा उक्त व्यक्ति की जीवन घटनाओं की जांच-पड़ताल बड़ी सावधानी से करती है। यदि उसका जीवन विश्वास, भरोसे और प्रेम के गुणों से असाधारण मात्रा में प्रेरित हुआ रहता है और इसकी साक्षी स्वयं ईश्वर अलौकिक चमत्कारों द्वारा देते हैं, तो वह संत घोषित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। गिरजा ने फ्रांसिस को भी इसी कसौटी पर कसा। फ्रांसिस उस अग्नि परीक्षा में खरा उतरे। गिरजा ने उन्हें संत ही घोषित नहीं किया, विश्व भर के धर्मविस्तार कार्य का उन्हें संरक्षक भी चुना है। उनका कार्यक्षेत्र अब भारत, जापान और सुदूर पूर्व ही नहीं सारा संसार उनके दामन में आ गया है। उनके प्रियजनों में जेवियर कुल के सपूतों का ही स्थान नहीं रहा, उनके प्रेम-प्लावित हृदय में मीन-तट की परिया जाति के लिए ही प्यार नहीं है, अब समस्त मानव जाति उनकी प्यारी हो गई है।

संत फ्रांसिस द्वारा किए गए चमत्कारों के विषय में बहुत-सी दन्त कथाएं प्रचलित रहीं। उनकी जीवनी के लेखकों में से अनेक पक्षपात के शिकार बन गए। लेकिन इस कारण कह देना कि जिन चमत्कारों का श्रेय सन्त फ्रांसिस को दिया जाता है वे सब झूठे हैं, सत्य से बहुत दूर होगा। हम मानते हैं कि संत फ्रांसिस ने अपने पत्रों में इन चमत्कारों का उल्लेख कदापि नहीं किया है। यह बिलकुल स्वाभाविक है। विनय संतों की निजी संपत्ति है। जो वास्तव में दीन होता है, वह अपने मुंह मिया मिट्ठू नहीं बनता। साधु-संत अपनी क्षुद्रता का ही अनुभव करते और जो कुछ मानवेतर शक्ति उन्हें प्राप्त हुई रहती है, उसका श्रेय वे ईश्वर को ही देते हैं। संत फ्रांसिस के विषय में भी यही बात थी।

यदि उन्होंने अपन चमत्कारों का उल्लेख नहीं किया है तो इनके साक्षी उनके साथी हैं जिनमें से बहुतों ने चमत्कारों को अपनी आंखों देखा था।

ईश्वर ने संत फ्रांसिस के द्वारा उनके जीवन-काल में अनेक चमत्कार किए, इसकी गवाही फ्रांसिस के स्वर्गवास के चार वर्ष बाद उनके साथियों ने सौगंध खाकर दी। संत फ्रांसिस की मृत्यु के बाद भी उनकी मध्यस्थता से अनेकों चमत्कार हुए हैं, लेकिन सबसे बड़ा चमत्कार तो उनका अक्षय शव ही है। इससे बढ़कर क्या हो सकता है कि प्रकृति के अनुल्लंघनीय नियम के बावजूद वह शरीर अब तक खाक में नहीं मिला है।

जो काम संत फ्रांसिस ने शुरू किया, वह अब भी चल रहा है। लोगों को खीस्त की प्रेम-शिक्षा देना, उन्हें खीस्त के प्रेम का अमूल्य पाठ पढ़ाना, वही खीस्तप्रेम जिसको पाकर उच्च कुलोत्पन्न महाकांक्षी फ्रांसिस ने पेरिस के विश्व-विद्यालय के उज्ज्वल भविष्य को त्याग दिया और आज्ञाकारिता का व्रत लिया; ऐश्वर्यमय जीवन को ठुकरा कर दरिद्रता को अपनाया और मातृभूमि के स्वाभाविक प्रेम से अलग, परिस्थितियों से पराजित, अपने बंधुओं से विरक्त गिरजा के अन्तिम संबल से भी वंचित, अपने सपनों के संसार को अधूरा छोड़ सांचन की ठंढी रात में शान्ति और संतोष के साथ इस संसार से चले गए। ऐसे ही खीस्तीय प्रेम के कारण बाह्य पराजय में भी विजय उन्हीं की हुई और आज संत फ्रांसिस जेवियर का नाम खीस्त मंडल में चिर स्मरणीय हो गया है। उस खीस्तप्रेम की तान उन्होंने एक बार इसी पावन भारत भूमि में छेड़ी थी जो कालान्तर में विजय नाद बन कर विश्व भर में फैल गई। भारतवर्ष को संत फ्रांसिस ने हृदय से प्यार किया था, यद्यपि वह प्रेम संगीत सुनाने के लिए उन्हें पसीना और लहू बहाना पड़ा था। वह भारतवर्ष अब भी उन्हें प्यारा है। यह हमारे भारत का सौभाग्य है, हम भारतवासियों का सौभाग्य है। धन्य है हमारा भारत, धन्य हैं हमारे संत फ्रांसिस।

समाप्त